Reg. No. 124726035RC0001 ISSN : 2562-6086

पुस्तक भारती रिसर्च जर्नल

Our Golden Heritage

April-June 2021

Pustak Bharati, Toronto, Canada

पुस्तक भारती रिसर्च जर्नल

PUSTAK BHARATI RESEARCH JOURNAL

A Peer Reviewed Journal

त्रैमासिक शोध पत्रिका

वर्ष- 3, अप्रैल-जून, 2021 अंक - 2

प्रधान संपादक : डॉ. रत्नाकर नराले

सह संपादक : डॉ. राकेश कुमार दूबे

रिव्यू कमेटी

डॉ. प्रो. तंकमणि अम्मा, तिरुवनन्तपुरम्
प्रो. हेमराज सुंदर, मारीशस
डॉ. करुणाशंकर उपाध्याय, मुंबई
प्रो. डॉ. शांति नायर, केरल
डॉ. सिराजुद्दिन नुर्मतोव, उजबेकिस्तान
प्रो. दक्ष्य मिस्त्री, बड़ोदा
प्रो. कृष्ण कुमार मिश्र, मुंबई

संपादक मण्डल

प्रो. सोमा बंद्योपाध्याय, पश्चिम बंगाल
प्रो. अरुणा सिन्हा, वाराणसी
प्रो. विनोद कुमार मिश्र, त्रिपुरा
प्रो. उमापति दीक्षित, आगरा
प्रो. उपुल रंजीथ हेवावितानागामगे, श्रीलंका
डॉ. मैरम्बी नुरोवा, ताजिकिस्तान
प्रो. दर्शन पाण्डेय, दिल्ली

परामर्ष मण्डल

डॉ. तुलसीराम शर्मा, कनाडा
डॉ. मनोज कुमार पटैरिया, नई दिल्ली
डॉ. एन. के. चतुर्वेदी, जोधपुर
प्रो. नीलू गुप्ता, अमेरिका
डॉ. मृदुल कीर्ति, आस्ट्रेलिया
प्रो. कमलेश शर्मा. कोटा

संरक्षक मण्डल

डॉ. यशवंत पाठक, अमेरिका
श्री रतन पवन, अमेरिका
श्री पंकज पटेल, अमेरिका

अनुक्रमणिका

संपादकीय

1. प्रगतिवाद और प्रयोगवाद तथा नई कविता की नई भावाभिव्यक्ति और नया शिल्प-विधान — 1
   डॉ . संजय कुमार
2. indian linguistic tradition: a view from Russian indology — 6
   Prof. Dr. Zilola Khudaybergenova
3. बौद्ध जातक कथाओं एवं भारतीय लोक कथाओं की परम्परा : कुछ विचार — 16
   प्रोफेसर उपुल रंजित हेवावितानगमगे
4. जयशंकर प्रसाद द्वारा लिखित कामायनी महाकाव्य पर वैदिक साहित्य का प्रभाव — 25
   डॉ . अन्जु शर्मा
5. हिंदी गज़लों में अभिव्यक्त सामाजिक चेतना — 29
   प्रो . सदानंद भोसले
6. मॉरीशस की हिंदी पत्रकारिता; स्वाधीनता आन्दोलन के विशेष सन्दर्भ में — 37
   डॉ. कृष्ण कुमार झा
7. प्राचीन भारत में विज्ञान की परंपरा — 48
   डॉ . राकेश कुमार दूबे
8. मोहन राकेश के नाटकों में अभिनेयता — 58
   डॉ . जयराम गाडेकर

संपादकीय कार्यालय

Toronto, Ontario, Canada, M2R
email : pustak.bharati.canada@gmail.com
Web : pustak-bharati-canad.com

प्रबंध एवं वितरण

Pustak Bharati (Books-India)Publishers & Distributors
H.No. 168, Nehiyan,Varanasi-221202, U. P. India
email: pustak.bharati.india@gmail.com

पत्रिका का मूल्य / सदस्यता राशि Pustak Bharati Pubs.& Dists. के सेंट्रल बैंक ऑफ इंडिया, मंगारी के खाता संख्या 5144696109 (IFSC: CBIN0281306) में जमाकर उसकी सूचना मेल या नं. +91-7355682455 पर दें।

* प्रत्येक शोध-पत्र में व्यक्त विचार लेखक के अपने हैं। संपादक मंडल का सहमत होना आवश्यक नहीं है।

संपादकीय

रत्नाकर नराले

हरि ओम्! नमस्ते. पुनः एक बार कोरोना की चपेट से सुरक्षित्त बचने के लिए आप सभी के लिए हार्दिक शुभकामनाएँ. कोरोना काल में लॉकडाउन के कारण वेब-गोठियों पर और ई-खबरों पर अधिक ध्यान देने का अवसर देश-विदेशियों को प्राप्त हो गया था और है.

सबसे ताजा और हर्ष दायक खबरें हैं -- हमारे वीर क्रीड़ा पटुओं द्वारा अन्यान्य पदक जीतने की, उनमें भी सर्वोत्तम समाचार है श्रीमान नीरज चोपड़ा जी द्वारा ओलंपिक का पहला स्वर्ण पदक जीतने का. पुस्तक भारती की ओर से हार्दिक बधाई नीरज जी! इस के साथ ही भारत सरकार का गौरवशाली निर्णय जिसके द्वारा सभी विजेता खिलाड़ियों को 15 अगस्त स्वतंत्रता दिवस पर संमिलित एवं सम्मानित करने की पहल सराहनीय है.

इस से पूर्व, महान साहित्यकार स्वर्गीय मुंशी प्रेमचंद जी के जन्मतिथि प्रित्यर्थ अनेकों वेबिनार हुए हैं. इनमें से कई वेब-गोष्ठियों में यह प्रतीत हुआ है कि मुंशी प्रेमचंद का नाम हिंदी साहित्यकारों में अग्रगण्य है. चर्चा में कई महान वक्ताओं का कहना था कि जब यह साहित्य लिखा गया तब से आज तक जमाना काफी बदल चुका है और अब पुरातन रूढ़ियों का मूल्यांकन आज के बदले हुए आधुनिक काल में किस तह से होना चाहिए. हमारा व्यक्तिगत मत यही है कि हमारे पूर्वजों के हमें दिए हुए आचार-विचार और संस्कृति के मानक किसी पुरोगामी मनुष्य को अमान्य लगते हों तो भी वे सबक पुराने सिक्कों की तरह अमूल्य ही गिने जाने चाहिए. सिक्कों के जानकार लोगों के लिए सिक्का जितना पुराना और दुर्मिल हो, उतना ही संग्रहणीय एवं मूल्यातीत गिना जाता है. अंतर नजरियेका होता है, वस्तु का नहीं. इसी तत्त्व से, हमारे पुरातन कवि लेखक साहित्यकार हमारी बहुमूल्य संरक्षणीय अमानत एवं धरोहर हैं.

रत्नाकर नराले

1

प्रगतिवाद और प्रयोगवाद तथा नई कविता की नई भावाभिव्यक्ति और नया शिल्प-विधान

डॉ .संजय कुमार

हर युग की कविता अपने पूर्ववर्ती युग से नई होती आई है। लेकिन प्रयोगवाद के बाद हिंदी कविता की जो नवीन धारा विकसित हुई ,उसमें पहली बार नये भावबोध की अभिव्यक्ति के साथ ही नये मूल्यों और नये शिल्प-विधान का अन्वेषण किया गया। उसे नयी कविता कहा गया। वस्तुतः नयी कविता नाम स्वतंत्रता के बाद लिखी गई उन कविताओं को दिया गया, जो अपनी वस्तु-छवि और रूप-छवि दोनों में प्रगतिवाद और प्रयोगवाद का विस्तार होकर भी विशिष्ट है।

नयी कविता-आंदोलन का आरंभ तत्कालीन इलाहाबाद तथा आधुनिक प्रयाग की साहित्यिक संस्था परिमल के कवियों और लेखकों -जगदीश गुप्त, रामस्वरुप चतुर्वेदी और विजयदेव नारायण शाही के संपादन में 1954 में प्रकाशित "नयी कविता[1]" पत्रिका से माना जाता है। रामस्वरूप चतुर्वेदी के शब्दों में "पिछले कुछ समय से नयी कविता की चर्चा-परिचर्चा एक काव्य-आंदोलन के रूप में इलाहाबाद और बाहर भी चल रही थी। यह प्रकाशन-योजना उसकी स्वाभाविक परिणति थी।[2]" इससे पहले अज्ञेय के संपादन में प्रकाशित काव्य-संग्रह 'दूसरा सप्तक' की भूमिका तथा उसमें शामिल कुछ कवियों के वक्तव्यों में अपनी कवितओं के लिये “नयी कविता” शब्द को स्वीकार किया जा चुका था।[3] दूसरा सप्तक सात कवियों की कविताओं का संकलन है ,जिसका संपादन अज्ञेय द्वारा 1949 में किया गया और 1951 में भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशन हुआ। लेकिन नयी कविता का आरंभ बिंदु तार सप्तक को माना जाता है जिसका संकलन एवं संपादन अज्ञेय ने 1943 ई. में किया।[4] आज भी अनेक काव्य रसिकों में इस संग्रह की कविताएँ आधुनिक हिन्दी कविता के उस सर्जनात्मक दौर की स्मृति जगाती हैं जब भाषा और अनुभव दोनों में नये प्रयोग एक साथ कर सकना मात्र ही कवि कर्म को सार्थक बनाता था। अज्ञेय के शब्दों में, “नयी कविता सबसे पहले एक “नयी मनःस्थिति का प्रतिबिंब है – एक नए मूड का – एक नए राग संबंध का रूप है।”[5] रामस्वरूप चतुर्वेदी ने इसे और विस्तार देते हुए लिखा है कि "कवियों, समीक्षकों, विद्वानों और पाठकों में कविता के इस नये स्वरूप को लेकर आक्रोश, विभ्रम, संभ्रम और सहानुभूति की विविध अर्थ-छायाएँ संभव हुईं। अनेक समीक्षाएँ और टिप्पणियाँ लिखी गईं। नयी कविता आधुनिक वैचारिक रचनाशीलता का प्रतिमान बन गई।"[6]

काव्य में कभी भी मानवीय संबंधों को इतना गौरव नहीं मिला जितना कि नई कविता में, क्योंकि यह वैविध्यपूर्ण जीवन के प्रति आत्म चेतन व्यक्ति की स्वाभाविक प्रतिक्रिया थी। अकेलापन, तनाव, आतंक, करुणा, सुख, आनंद इतने सीधे और सहज ढंग से काव्य में पहली बार अवतरित हुए। इसीलिए नई कविता को अपने समय-संदर्भ में मानवीय उपस्थिति और लगाव की कविता कहा गया। जगदीश गुप्त ने इसे “प्रगतिवादी यथार्थ के आघात से उत्पन्न छायावाद के स्वप्न भंग के बाद की कविता”[7] कहा है, जिसमें व्यक्त भावनाएं कुहासे के बीच पनपने वाले तंद्रालस से युक्त न होकर दिन की तेज रोशनी के बीच विषमताओं से घिरे जागृत मनुष्य की भावनाएं हैं।

इन नए रचनाकारों ने काव्य से संबंधित पुरानी अवधारणा और मूल्यों से असहमति व्यक्त करते हुए नए काव्य-चिंतन की प्रवृत्ति को खुलकर बढ़ावा दिया है। अज्ञेय ने कहा कि युग-परिवर्तन के साथ हमारे

रागात्मक संबंध बदल गए हैं। जीवन-जगत को देखने की दृष्टि के बदलाव ने राग-बोध को परिवर्तित कर दिया है। आज की कविता मूलतः अपने को अपनी अनुभूति से पृथक करने का प्रयत्न है, अपने ही भावों के निर्वैयक्तीकरण की चेष्टा है। कविता आत्माभिव्यक्ति नहीं है। यह आत्म से पलायन है। रोमान्टिक भाव-बोध के विरोध से उपजी गैर-रोमान्टिक दृष्टि का समर्थन अज्ञेय ने किया। जगदीश गुप्त ने कहा कि "कविता सहज आंतरिक अनुशासन से मुक्त वह अनुभूतिजन्य सघन लयात्मक शब्दार्थ है, जिसमें सह-अनुभूति उत्पन्न करने की यथेष्ट क्षमता निहित रहती है। अपनी कविता "अँधेरे में" में मुक्तिबोध ने इसी क्षमाता को अभिव्यक्त किया है -

किन्तु,वह फटे हुए वस्त्र क्यों पहने है?
उसका स्वर्ण-वर्ण मुख मैला क्यों है?
वक्ष पर इतना बड़ा घाव कैसे हो गया?
उसने कारावास-दुःख झेला क्यों?
उसकी इतनी भयानक स्थिति क्यों है[8]?

इन नए कवियों ने सभी प्रचलित काव्य-रूपों में या तो सुधार किया है या फिर सर्वथा नूतन काव्य-रूपों का खुलकर प्रयोग किया है। पुराने प्रबंध-काव्य के अखण्ड कथात्मकता और अखण्ड रसात्मकता वाले रूढ़ ढाँचे को खण्डित कर नई प्रबंध-चेतना को विकसित किया। इसके अतिरिक्त अचानक गंभीर प्रसंगों के बीच हल्की बात कहकर गंभीरता को एक झटके से तोड़ने की प्रवृत्ति का इन कवियों ने एक तकनीक के रूप में व्यापक स्तर पर उपयोग किया है। मुक्तिबोध ने "चाँद का मुँह टेढ़ा है' कविता में इस दौर की स्थिति पर कहा है –

अजीब है!!
गगन में करफ़्यू,
धरती पर चुपचाप जहरीली छीः थूः[9],

सभी नए कवियों ने काव्य-भाषा की रचनाशीलता पर विशेष ध्यान केंद्रित किया। वादों-वायदों से भ्रष्ट भाषा की ओर रघुवीर सहाय ने संकेत देकर कहा कि नए शब्द को खोजने और रचने का अर्थ है कि पूरे अनुभव की वास्तविकता का बोध और सम्प्रेषण। "आत्महत्या के विरूद्ध" शीर्षक उनकी कविता नयी कविता के सभी कवियों की मंशा का प्रतिनिधित्व करती यह शून्यकाल

है युग बदलने का
बीसवीं शताब्दी जाने से पहले धोखा दे रही है
कि सारे संसार में आ रहा है नवयुग[10]

अब कविता में जीवन का कोई भी विषय अकाव्योचित नहीं माना गया और मानव जीवन के यथार्थ को उकेरने का यत्न प्रबल आग्रह के साथ दिखाई दिया। नई कविता में शब्द चमत्कार से काव्य को विशिष्ट बनाने का आग्रह नहीं था, बल्कि भोगे हुए यथार्थ को ज्यों का त्यों सामने रख देने की ललक थी। कारण यह था कि नई कविता परिस्थितियों की उपज नहीं थी और यह समस्त बंधनों से मुक्त होकर यथार्थ भाव प्रकाशन में संलग्न थी। यह बहुआयामी जीवन की सच्चाईयों को इसी प्रकार बिना लाग लपेट के रूपायित करती रही।

नई कविता का आधुनिक दृष्टिकोण नवीन मानव मूल्यों के लिए विकलता और संवेदना से भरा हुआ है। नया कवि टकराहट, तनाव, सार्वभौम संकट, मनुष्य की पीड़ा, उसकी लघुता एवं प्रभुता सारी चीजों से सम्पृक्त है तथा अभिव्यक्ति एवं संप्रेषण के माध्यमों को पुनः व्याख्यायित करता है। यह दृष्टिकोण केदारनाथ अग्रवाल, अज्ञेय, मुक्तिबोध, शमशेर, जैसे प्रौढ़ कवियों में भी है और श्रीकांत वर्मा, धूमिल, केदारनाथ सिंह, कमलेश, त्रिलोचन, सौमित्र मोहन, राजकमल चौधरी, लीलाधर जगूड़ी, धूमिल जैसे युवा कवियों में भी

मैंने कहा आ-ज़ा-दी
और दौड़ता हुआ खेतों की ओर गया।
वहाँ कतार के कतार
अनाज के अंकुए फूट रहे थे।[11]

नई कविता में किसी मतवाद का आग्रह नहीं है और न ही किसी मत से कोई विरोध है। इसके कुछ कवि गांधीवादी हैं, तो कुछ मार्क्सवादी, कुछ अस्तित्ववादी हैं, तो कुछ अति यथार्थवादी। लेकिन आधुनिक संवेदना के साथ मानवीय परिवेश के संपूर्ण वैविध्य को नए शिल्प विधान में अभिव्यक्त करने की चाह सभी में है। उसका संबंध प्रगतिवाद से भी है और प्रयोगवाद से भी, परंतु वादों की सीमा का अतिक्रमण कर कला और जीवन के क्षेत्र में कुछ नई सर्जना करने की उत्सुकता भी दिखाई देती है। उनमें मनुष्य के भीतर बाहर के संघर्ष और छटपटाहट को व्यक्त करने की आतुरता भी है। यह व्यापक कविता संसार है, क्योंकि जीवन दृष्टि ही व्यापक है।

प्रगतिवाद और प्रयोगवाद ने कथ्यों को बांट दिया था, जबकि नई कविता ने मानव को उसके समग्र परिवेश में सही रूप में अंकित और प्रतिस्थापित किया। नई कविता का दृष्टि पटल मानवतावादी है, परंतु यह मानवतावाद मिथ्या आदर्शों पर टिका हुआ नहीं है। अज्ञेय जहां अभिजात्य संस्कार एवं बोधगत अकेलेपन के कवि हैं, तो मुक्तिबोध गहन निजी संघर्ष और अपने समय के राजनैतिक-सामाजिक वैषम्य को कविता में रुपायित करने वाले कवि। रघुवीर सहाय की दृष्टि में कविता 'हर दिन मनुष्य से एक दर्जा नीचे रहने 'का बखान है, तो श्रीकांत वर्मा का काव्य संसार एक तरह का आधुनिक नरक जहां किसी के ना होने से कोई फर्क नहीं पड़ता। केदारनाथ सिंह की 'अपनी बच्ची के लिए एक नाम 'सर्वेश्वर दयाल सक्सेना की 'अपनी बिटिया के लिए दो कविताएं 'नागार्जुन की 'अकाल के बाद 'रघुवीर सहाय की 'शक्ति दो पिता ' धूमिल की 'मोची राम 'आदि कविताएं जाने पहचाने संबंधों को अपनी पूरी जटिलता में अभिव्यक्त करती हैं।

नई कविता में जीवन के प्रति गहरी आस्था दिखाई देती है। यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि हम क्षणों में जीवन जीते हैं। जो मनुष्य इन क्षणों को जितनी सच्चाई से अनुभूति बना कर जिएगा, वह जीवन की संपूर्णता का उतना ही सुख ले सकेगा। परंतु शर्त यह है कि उसे जीवन की एक-एक अनुभूति, एक-एक व्यथा, एक-एक सुख को सत्य मान कर उसके अस्तित्व को स्वीकारना होगा।

नई कविता का मानव एक लघु मानव या सामान्य पुरुष है जो अपनी सारी संवेदना, भूख-प्यास, आशा-निराशा मानसिक ताप आदि को लिए-दिए उपेक्षित था। उसकी प्रतिबद्धता किसी दर्शन, संप्रदाय , संस्कृति या राजनीतिक विचारधारा के प्रति न होकर सहज मानवीय संवेदना के प्रति है। यह प्रतिबद्धता उन सभी वर्गों के प्रति है जो जीवन के सुख-दुख के प्रति ईमानदार हैं और उधार का नहीं अपना जीवन जीते हैं। यह लघु मानव हर स्थिति में अपने अहं का पोषक और रक्षक है तथा अपनी लघुता में भी महान है ।अज्ञेय ने तो इस लघुता को साहस के साथ स्वीकार भी किया है–

यह दीप अकेला स्नेह भरा।
है गर्व भरा मदमाता पर
इसको भी पंक्ति दे दो।

नई कविता द्वंद और तनाव को भी काव्य मूल्य मानकर चलती है। अज्ञेय जिस मानसिक तनाव को प्रमुखता देते हैं वह जीवन की विविधता से विभाजित और शिथिल होता है, परंतु मुक्तिबोध का तनाव दिव्स्तरीय है- अपने परिवेश के साथ और स्वयं अपने भीतर। इसमें अनुभूति की जटिलता भी है और प्रामाणिकता भी। 'हरी घास पर क्षण भर 'में प्रेमियों को ऐसे ही अनेक बाहरी और भीतरी बाधाओं का पूरा बोध होता है।

नई कविता किसी मूल्य को फार्मूले के रूप में न स्वीकार करती है और न अपनाती है। सत्य व्यक्ति का भी हो सकता है और समाज का भी। कभी दोनों समान होते हैं तो कभी आपस में टकराते भी हैं। परंतु मानव मूल्यों के प्रति आस्थावान व्यक्ति अपने व्यक्तिगत विकल्प को सामाजिक संकल्प के सामने विसर्जित कर देता है–

कोई है ?
जो अपने घर का मोह छोड़
इस राजमार्ग पर
अंकित हो जाने को तत्पर है?
इस राजमार्ग को नाम नहीं
निष्ठा देनी है।[12]

नई कविता जीवन के सौंदर्यबोध, अनुभूति और प्रकृति तथा उसके आग्रह को एक सहज मानवीय धरातल पर ग्रहण करती है तथा बिम्बों, प्रतीकों , शब्दों, उपमानों को लोक जीवन के बीच से इकट्ठा कर अपने आप को अत्यधिक संवेदना पूर्ण और सजीव बनाती है। लोक जीवन से इस जुड़ाव का वास्तविक प्रतिनिधित्व सर्वेश्वर दयाल सक्सेना करते हैं –

अभी भी उस लग्गी की चुभन
मैं अपनी पसलियों पर महसूस करता हूँ
और एक सूखे चीमड़ कंकाल का
रूखा झुर्रियों वाला हाथ
मेरे गालों से छू जाता है।.. [13]

काव्य की पुरानी भाषा को छोड़कर बातचीत की सामान्य भाषा का प्रयोग और नए बिम्बों के प्रति आग्रह नई कविता की सबसे खास विशेषता है। यहां तक कि बिम्ब का आग्रह इतना व्यापक हो गया है कि कविता की अच्छाई बुराई बिम्ब पर निर्भर हो गई है–

कितने खच्चर
कितनी बैलगाड़ियाँ
कितनी आँखें
कितने हाथ चुन दिए गए हैं माँझी के पुल में
मेरी बस्ती के लोगों के पास
कोई हिसाब नहीं।[14]

खण्डित स्मृति बिंबों का भी सभी कवियों ने खूब प्रयोग किया है।

इस प्रकार बिंब की लड़ी को कवि दूर तक ले जाते हैं। नयी कविता के कवियों ने वस्तु के मानसिक प्रतिबिंबों को केन्द्र में ला दिया है। शमशेर आत्मगत बिंब और आत्म का वस्तुगत बिंब, दोनों को रचने का प्रयास करते हैं –

काश कि मैं न होऊं
न होऊं
तो कितना अधिक विस्तार
किसी पावन विशेष सौंदर्य का
अवतरित हो|
पावन विशेष सौंदर्य का।[15]

यहां तक की काव्य सृजन बिम्बों के दायरे से भी बाहर निकल जाता है और सपाटबयानी की ओर बढ़ जाता है –

तुमने जहां लिखा है 'प्यार'
वहां लिख दो 'सड़क'
फर्क नहीं पड़ता
मेरे युग का मुहावरा है
फर्क नहीं पड़ता।[16]

बिम्बों के प्रति मोहभंग का कारण कवियों का यह अनुभव था कि बिम्ब विधान सत्य के उद्घाटन में बाधक हैं। जबसे कविता में बिम्बों की प्रवृत्ति बढ़ी, सामाजिक जीवन के सहज और सजीव चित्र दुर्लभ हो गए। सुंदर बिम्बों के चयन की प्रवृत्ति बढ़ने से प्रस्तुत गौण हो गया और अप्रस्तुत प्रधान। इससे कविता का दायरा भी सीमित हो कर रह गया। धीरे-धीरे बिम्ब विधान कविता के लिए अनावश्यक भार प्रतीत होने लगा। सातवें दशक तक आते-आते कई कवियों को महसूस हुआ कि कविता को बिम्बों के भार से मुक्त करा कर ही उसकी जीवंतता और प्रासंगिकता को अक्षुण्ण रखा जा सकता है।

संदर्भ ग्रंथ सूची –

1. नयी कविता : संपादक जगदीश गुप्त, रामस्वरूप चतुर्वेदी एवं विजयदेव साही, साहित्य सहयोग प्रकाशन, प्रयाग, 1954

2. नयी कविताएँ : एक साक्ष्य, रामस्वरूप चतुर्वेदी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद,1990, पृष्ठ-13.
3. दूसरा सप्तक : संपादक अज्ञेय, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी और दिल्ली,1951
4. तार सप्तक : संपादक अज्ञेय, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी और दिल्ली,1943
5. सर्जना और संदर्भ : नयी कविता अज्ञेय, पृ. 172
6. हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास, रामस्वरूप चतुर्वेदी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद,1996, पृष्ठ-276.
7. नयी कविता : स्वरूप और समस्याएँ, जगदीश गुप्त, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन दिल्ली, 1972, पृ. 116.
8. प्रतिनिधि कविताएँ, गजानन माधव मुक्तिबोध, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली, 1991, पृ. 129
9. वही, पृ. 94
10. एक समय था, रघुवीर सहाय रचनावली, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2000, पृ. 313
11. संसद से सड़क तक, धूमिल, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009, पृ. 99
12. मेरा समर्पित एकांत, नरेश मेहता, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली ,1962, पृ. 38
13. कुआनो नदी, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम सं.1973, पृ. 22-23
14. जमीन पक रही है, केदारनाथ सिंह, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2014, पृ. 95
15. चुका भी हूँ मैं नहीं, शमशेर, राधाकृष्ण प्रकाशन, 1975, पृ. 99
16. जमीन पक रही है, केदारनाथ सिंह, पृ. 47

डॉ .संजय कुमार
संप्रति - असिस्टेंट प्रोफेसर, डी.बी.एस. डी.डिग्री कॉलेज, गरखा, सारण (जे. पी. विश्वविद्यालय, छपरा)

2

INDIAN LINGUISTIC TRADITION: A VIEW FROM RUSSIAN INDOLOGY

Prof. Dr. Zilola Khudaybergenova

Linguistics originated in ancient times in connection with the awakening of a special cognitive interest in language, which was stimulated by the needs of emerging states and their activities in the spheres of administration and economy, the creation and dissemination of writing, the need to teach writing and train qualified scribes-administrators, as well as to solve a number of applied tasks arising from the activity of interpreting sacred texts and performing religious rituals, experiments in the field of poetics, etc.

The distinctive and extremely stable linguistic tradition of the Eastern world originated in ancient India[1]. She, like the Chinese linguistic tradition (but much more intensively) influenced the formation and development of linguistic thought in neighboring countries[2]. At the beginning of the 2nd millennium BC. Indo-European tribes of the Aryans, or Aryans (Indo-Iranians), invade Iran and India from the Northwest. As a result of the divergence, the Indo-Iranian languages split into two branches - Iranian and Indo-Aryan. The speakers of the languages of the first branch also settle in the territories of modern Afghanistan and Tajikistan. The self-name of the Indo-Iranian tribes, who lived earlier in the northern Black Sea region, and then in Asia Minor, is Arya (in the original meaning ‘noble, loyal, friendly; representative of one of the three higher castes’). This word formed the basis of two proper names - Iran (aryanam 'the country of the Aryans / noble'), which has survived to this day and meant the territory of settlement of the first group of Aryan tribes, and Aryavarta (Aryavarta 'way, the country of the Aryans / noble'), which meant in Vedic mythology and in real life, the original territory of settlement of another group of Aryans in India. We know about the Indo-Aryans as the carriers of the Vedic culture (mid-1st millennium BC - mid-1st millennium AD), embodied in orally transmitted religious texts - the Vedas (Rig Veda, Samaveda, Yajurveda, Atharvaveda) [3].

Russian Indology: Formation and Development

The rise of Indology in Russia and St. Petersburg dates back to the first half of the 18th century. After the founding of the Academy of Sciences, one of its first academicians was T.-Z. Bayer, who came to Russia in 1726[4]. Being engaged mainly in Chinese, Mongolian, Kalmyk, Manchu and Tangut (Tibetan) languages, he was one of the first in Russia to start studying "Brahmin" language, i.e. Sanskrit, under the guidance of the Indian Sonkhbara who came to St. Petersburg. The fruit of these studies was two of his works on the literature and grammar of

[1] Баранников П. А. Возникновение и развитие обществ по распространению языка хинди в Индии // Письменные памятники и проблемы истории культуры народов Востока. Тезисы докладов II годичной научной сессии ЛО ИНА. Март 1966 года. Ленинград.

[2] Березин Ф.М. История лингвистических учений. М.: Высшая школа, 1984. 319 с.

[3] Алпатов В.М. История лингвистических учений. Учебное пособие. М.: "Языки русской культуры", 1999. – 368 с.

[4] https://dic.academic.ru/dic.nsf/enc_biography/7377/Байер

these languages. In the second article, for the first time in Russia, samples of the Sanskrit alphabet (Devanagari), printed from wooden plates, which were made according to the drawings of Bayer himself, are given, and brief information about the Dravidian (Tamil, Telugu) and some New Indian languages (Marathi, Gujarati, etc.) is given.). In the 30s. XVIII century. In addition to Bayer, D.G. Messerschmidt, who was interested in the Punjabi and Tamil languages, studied the Devanagari alphabet, as well as the alphabets of the Dravidian languages.

The study of Sanskrit in Russia in the initial period depended on the scientific interests of individual scientists, who were engaged in it only along the way with their main oriental studies. A similar picture was observed in the first decades of the existence of the Academy of Sciences. Here, first of all, we should mention F. Adelung (1768–1843), an honorary academician who tried to give an overview of literature in Sanskrit[5]. R.H. Lenz (1808-1836) left a noticeable trace in the study of Sanskrit. He was the first to lecture free of charge on Sanskrit literature and comparative linguistics at St. Petersburg University. P.Ya. Petrov (1814–1875) was the direct successor of R.H. Lenz in the study of Sanskrit. The result of his studies was the work "Adding to the catalog of Sanskrit manuscripts kept in the Asian Museum of the St. Petersburg Academy of Sciences."

From the first half of the 19th century. the main center for the study of Sanskrit becomes the Academy of Sciences. This period is associated with the name of Acad. O. N. Bötlingka (1815-1904)[6]. In 1887 he published the famous Panini grammar. His merit was the publication of Wopadeva's grammar, Hemachandra's synonymous dictionary with a German translation, the Upanishads, the ancient drama Mrichchakatika ("Clay Cart") in German translation, as well as a Sanskrit anthology. The culmination of O. N. Bötlingka's many years of activity was the creation of Sanskrit dictionaries published by the Academy of Sciences: complete (1852–1875) and short (1879–1889). These dictionaries marked the era in the study of Sanskrit and became widely known all over the world under the name "Petersburg dictionaries". They served as the basis of all European Indological science for a whole century and contributed to the development of comparative-historical linguistics.

Indological research at the Academy of Sciences was carried out in two directions. The first (earlier) was linguistic, which found its expression in the publication of the above-mentioned Sanskrit dictionaries, monuments of Indian grammatical literature and various Sanskrit texts.

The second direction in Indology was Buddhist. The founders of the scientific study of Buddhism are the Sinologist Acad. V.P. Vasiliev[7] (1818-1900) and indologist prof. I.P. Minaev[8] (1840-1890). The latter brought up a wonderful school of Russian Indologists, who became the most prominent scientists of their time and continued his work. Two of them became academicians - S.F. Oldenburg and F.I. Scherbatskaya.

In addition to northern Buddhism, which S.F. Oldenburg was engaged in all his life, he studied Indian folklore, fairy tales and Jatakas, and worked on the publication of Sanskrit texts. S.F. Oldenburg paid special attention to Mahabharata, having completely worked through the entire epic under the leadership of

[5] http://funeral spb.narod.ru/necropols/volkovskoe/tombs/adelung/adelung.html

[6] http://allpetrischule-spb.org/index.php?title=Бетлинг,_Оттон_Николаевич

[7] Академик В.П. Васильев (1818-1900) Как исследователь истории и культуры Китая, Тибета и Монголии. К 200-летию со дня рождения. –М., 2018.

[8] http://www.rgo-sib.ru/rgo/39.htm

an Indian in London. He was the initiator and permanent director of the publication of the world famous series "Collection of Original and Advanced Buddhist Texts" under the general title "The Buddhist Library", founded by him in 1897[9].

At the turn of the XIX and XX centuries. began an intensive and comprehensive survey of Central Asian cultures. Centers of Buddhist culture were discovered (SF Oldenburg's expeditions to Turpan [1909–1910] and Dunhuang [1914–1915]), new documents in Sanskrit and Tibetan languages were discovered, and an intensive study of northern Buddhism began.

This is the path that Acad. F.I. Scherbatskaya (1866-1942)[10]. The scientific interests of F.I. Scherbatsky were steadily aimed at studying Indian philosophy, more precisely, Buddhist logic, as well as Buddhism itself from Sanskrit and Tibetan sources. Our close proximity to the countries of the Buddhist world and the enormous wealth of the Academy of Sciences in the field of Tibetan Buddhist literature also influenced his choice.

Thus, from the end of the XIX and beginning of the XX century. the study of Sanskrit at the Academy of Sciences was subordinated to the study of Buddhist philosophy and culture. However, along with this, the philological direction continued to exist. In this respect, the activities of the third student of I.P. Minaev - prof. ND Mironov, who for many years dealt with the issues of Vedic literature (based on the hymns of the Rig Veda) and worked on the description of Sanskrit manuscripts, some of which were collected and brought by the researcher himself. As a result of this work, I.P. Mironov prepared and published two catalogs of these manuscripts, which are available both in the St. Petersburg Branch of the Institute of Oriental Studies of the Russian Academy of Sciences and in the State Public Library.

After the October Revolution, the further development of the traditional sections of Russian Indology continued. The "Buddhist Library" gained even greater scope. The most prominent scientists from the countries of the West and the East united around it: prof. Sylvain Levy (France), prof. De La Vallais Poussin (Belgium), Vogihara (Japan), M. Walleser (Germany), F.I. Scherbatskaya and O.O. Rosenberg (Russia).

On the initiative of Oldenburg and Shcherbatsky, the publication of the series "Monuments of Indian Philosophy" was resumed, which they had conceived back in 1914 and approved by a resolution of the Academy of Sciences. For this, first of all, the works of Vachaspati-Mishra on all Indian philosophical systems, the main treatises of the Nyaya system, the seven treatises of Dharmakirti, works on the logic of Dignaga and Vasubandhu's work "Abhidharmakosha", containing the system of primitive Buddhism, were selected.

Already in the first years of Soviet power, there was an urgent need for textbooks for the study of Sanskrit. In 1923, on the initiative of F.I. Scherbatsky and under his editorship, a Russian translation of the textbook by G. Buhler was made. This textbook, presented from the point of view of the Indian grammatical tradition, is still used in the study of Sanskrit at St. Petersburg State University and other universities in the country.

In the plans of the Institute of Oriental

[9] Сергей Федорович Ольденбург - ученый и организатор науки. –М., 2016.

[10] Аникеев И. П. Выдающийся русский индолог Ф. И. Щербатской // Вестник истории мировой культуры. 1958. № 3; Сидорова Е. Г. Интерпретация буддизма средствами философской компаративистики: вклад Ф. И. Щербатского в формирование языка межкультурного диалога // Восток. Афро-Азиатские общества: история и современность. 2008. № 3. С. 47-57. Щербатской Ф.И. Избранные труды по буддизму. М., 1988.

Studies, reorganized in 1930, an emphasis was placed on a new topic, where in the first place were questions of the economy of the countries of the East. Among the issues requiring development on the basis of Sanskrit sources, in addition to traditional topics, were the publication of the most important Indian monuments on the history, economy and state structure of ancient India. At the same time, work began on Kautilya's treatise "Arthashastra", which was interrupted and resumed only in 1938 (the publication of the complete Russian translation of Arthashastra was published only in 1959). In the same 1938, a student of I.P. Shcherbatsky and Acad. A.P. Barannikov M.A. Shiryaev (1887-1952) began a new translation of the "Laws of Manu".

In 1939, on the initiative of A.P. Barannikov, who was at that time the director of the Institute of Oriental Studies, the Russian academic translation of Mahabharata, the most important epic monument of ancient India, was started. Work on the translation of the first book, Adi-parva, continued with significant interruptions during the war, both under the conditions of the siege of Leningrad and during the stay of the Institute of Oriental Studies in Tashkent. The first book was published in 1950 under the editorship of A.P. Barannikov.

After a long break, the translation of the second book of the Mahabharata - Sabha-parva, was prepared, which was published in 1962, the work on the translation and study of the Mahabharata continued further. In 1964, the translation and study of the fourth book of this monument - Virata-parva, which was published in 1967, was completed and prepared for publication.

It is especially worth noting the activities of V.S. Vorobyev-Desyatovsky (1928-1956), who, possessing rare abilities and talent, deep linguistic training and a broad scientific outlook, in a relatively short period of time was able to prepare a number of very valuable works and research. In the Sector of Oriental Manuscripts, V.S. Vorobyev-Desyatovsky was successfully engaged in the study of Central Asian manuscripts, continuing the tradition started by S.F. Oldenburg[11]. He dismantled the Indian Foundation and published an article about it "Collection of Indian Manuscripts of the Institute of Oriental Studies of the USSR Academy of Sciences." V.S. Vorobyov-Desyatovsky showed particular interest in studying the manuscript collection consisting of the collections of N.F. Petrovsky, P.K. Kozlov, S.F. Oldenburg and others, and containing unique handwritten materials of the 1st – 9th centuries. in Sanskrit, Saka, Kuchin and Tibetan languages. The work on the description and preparation for publication of a number of interesting materials remained unfinished. The study of the "hybrid" Sanskrit, which was distinguished by unusual inflectional forms, which he began with great enthusiasm, also ended. The work of V.S. Vorobyev-Desyatovsky on the description and study of Central Asian manuscripts is continued by M.I. Vorobyeva-Desyatovskaya. Together with MI Vorobyeva-Desyatovskaya the work on Buddhist Sanskrit manuscripts was carried out by E.N. Temkin and V.G. Erman.

Today at the St. Petersburg Branch of the Institute of Oriental Studies of the Russian Academy of Sciences, work continues on the academic translation and research of the most important monument of Indian culture - Mahabharata. To date, S.L. Neveleva and Ya.V. Vasilkov have published nine books of the Mahabharata (books III, VIII, X, XI, XIV, XVII and XVIII). The work on the XIIth book of the Mahabharata is carried out by the young

[11] Документы по деятельности В.С. Воробьева-Десятовского. Письменные памятники Востока. 2016. №2. –С.112-125.

scientist M.I. Petrova.

Indian Linguistic Tradition: Interpretation of Russian Indologists

The desire to preserve the purity of the language of the religious ritual, which received the name Vedic, was the basis for awakening a special interest in the problems of language in the 1st millennium BC. first of all, among the representatives of the highest caste - the priests-Brahmins, who performed complex cult rites in an already obsolete and not always understandable language even in their own circle, which was considered the language of the gods and to which magical power was attributed. The Vedic language, which served the Indian branch of the Aryans, by the middle of the 1st millennium BC. is practically out of use. There was a need for an accurate pronunciation of the sacred hymns - the Vedas, the normalization of Sanskrit - the same for the whole of India, and comprehensive comments on the ritual texts were also needed.

The problematic situation that developed in India under the influence of the needs of a religious cult differed from those that took place in the Middle East and China: here the priority was given to spoken speech, and not to writing; the letter came relatively late. Accordingly, primary attention was paid to the study of the laws of melody, rhythm, metrics, phonetics (and then the Chinese learned from representatives of Indian culture, joining Buddhism), as well as the elementary etymologization of words[12].

Questions of language are considered by the Hindus in the earliest monuments of Vedic literature - Vedangs. In one of the Vedangas (shiksha) issues of phonetics and pronunciation are highlighted: the ancient Indians made significant progress in the study of speech sounds and their classification based on articulatory signs. They already realized the non-identity of the concepts of the sound of speech and phoneme, they had the outline of the concept of the syllable phoneme. Articulatory classifications of sounds built on a clear logical basis were reflected in the sequence of graphic signs in the alphanumeric systems of Indian writing (Brahmi - from about the 8th century BC, Kharoshthi, Nagari, Devanagari, Charade, etc.), which, most likely, they go back not to the still un-deciphered Proto-Indian (mostly hieroglyphic), but to the West Semitic syllabic writing. Another Vedanga (Chhanda) is devoted to the theory of poetry, in the third (Nirukta) questions of etymology and lexicology are considered. Nirukta is a special discipline dealing with the explanation and etymological interpretation of words used in priestly ritual. Dictionaries were actively developed that catalog the names of the gods, the names of the actions they perform, the objects at their disposal, the signs of these objects, etc. Yaski's Nirukta is the first extensive lexicographical work of this kind that has come down to us, consisting of five parts and including synonymous series and thematic groups of object names, lists of verbs and verbal nouns, less systematized lists of nouns and adjectives, etc. In his work, Yaska paid special attention to etymology. At the same time, he included in his Nirukta grammatical information (grammatical classification of words, information from the field of word formation, the concept of case, the seven-membered paradigm of the name - without vocative).

The achievements of the ancient Indians in the field of lexicography are also noticeable. They wrote extensive ritual and mythological treatises written in Sanskrit, a language qualitatively different from Vedic, by the Brahmans (8-7 centuries BC), which set out the general programs of the ritual actions of the priests and the interpretation of the Vedic

[12] Алпатов В.М. История лингвистических учений. Учебное пособие. М.: "Языки русской культуры", 1999. – 368 с.

verses being performed at the same time. At the same time, they also turned to the Vedic language. Collections of glosses to obsolete words of the "Rig Veda" are the first actually linguistic experiments.

The development of grammar problems - Vedanga vyakarana - reaches a particularly high level. The pinnacle of grammatical thought and a model for many imitations was the work "Ashtadhyayi" ('Eight Books') by Panini (5th or 4th century BC), which sets the task of strict regulation and canonization of Sanskrit, which developed alongside the Vedic language on a different dialectal basis and gradually supplanted it in religious use. Panini constantly draws attention to the main features of Vedic and the differences from Sanskrit. The description of the language follows a strictly synchronous principle. Attention is drawn to the extreme conciseness of the presentation (in order to make it easier to memorize the rules by heart). Panini's grammar, based on the previous linguistic tradition, contains over 4,000 rules (sutras). A sophisticated system of symbolizing linguistic units, rules and operations is used. It is written in an extremely formalized language, reminiscent of algebraic formulas, which, without special commentary, is incomprehensible even to people who know Sanskrit well. For example, the sutra ató heh is commented as "in the plural after a, the personal ending of the 2nd person singular is omitted."[13]. Большое место уделяется фонетике. Much attention is paid to phonetics. Panini speaks in detail about combinatorial sound changes, concerns issues of stress.

Analyzing morphological phenomena, Panini singles out various classes of verb roots, types of endings in the noun declension. The concepts of root and suffix are analyzed on the basis of the word paradigm; Panini is familiar with the concepts of morpheme zero and internal inflection[14].

And today, from the standpoint of "active grammar" (i.e., the speaker's grammar) and generative linguistics, Panini's original approach to the description of language is striking: it goes from communicative goal setting and transmitted meaning to the selection of lexical morphemes (roots) and then syntactic constructions. Phonetic information dissolves into the main body of grammar. They are presented from positions similar in spirit to modern morphonlogy. Special attention is paid to morphological analysis (without differentiation of inflection and word formation. For the first time in the history of linguistics, the concept of “fictitious” morphemes is postulated. The syntax is constructed primarily as a statement of a set of information about the functions of a noun in a sentence, etc., scattered in different places of work. In grammar contains a number of applications in the form of lists of words combined by grammatical features.

According to A.P. Barannikova [15], Panini for the first time in the history of Indian linguistics provides examples of the comparative method, comparing Sanskrit and Vedic language in the field of phonetics, morphology, word formation and, partly, syntax. But Panini only states the facts of the difference, but does not draw any theoretical conclusions from this.

It should be noted the predominantly theoretical orientation of Panini's work, which anticipates in its scientific level the achievements of modern formal logic, structural and generative linguistics. The

[13] Сусов И.П. Введение в теоретическое языкознание. Электронный учебник http://homepages.tversu.ru/~susov

[14] Березин Ф.М. История лингвистических учений. С.24.

[15] Баранников А.П., Баранников П.А. Хиндустани (хинди и урду). Грамматический очерк / Под общей редакцией М.Н.Сотникова. М.: Издательство литературы на иностранных языках, 1956.

method of analyzing a word by its morphological structure is still used today. Subsequent grammatical works in ancient and medieval India are mainly comments or revisions of the canonized grammar of Panini (Vyadi, Katyayana, Patanjali, and in the Middle Ages Chandra, Vararuchi, Hechamandra, Jayaditya, Vamana, Bhattoji Dikshit). Panini's principles served as a basis for describing a number of other Indo-Aryan languages (including Prakrit).

Vararuchi (3-2 centuries BC) was the first in linguistics to put forward the idea that Sanskrit is the source to which all the facts of the Middle Indian languages are traced. In the grammar Illumination of the Prakrit he showed how Prakrit words and forms were formed from Sanskrit words and forms. According to A.P. Barannikov, Vararuchi gives a rudimentary form of comparative grammar; he applies the comparative historical method long before this method became widespread in Europe[16].

Vararuchi analyzes phonetics in great detail, studying the formation of each sound, phonetic changes, in particular assimilation. Moreover, Vararuchi considers phonetic changes in connection with morphological transformations, thus indicating the connection between phonetics and morphology.

Along with classical Sanskrit, Buddhist hybrid Sanskrit arises and spreads, which, along with Pali, was one of the main languages of the Buddhist religion, gradually (from the 6th-5th centuries BC to the end of the 1st millennium AD).) which suppressed the religion of Brahmanism, and then during the 1st millennium AD. dissolved on the territory of India in Hinduism as a renewed Brahmanism. The ancient Indians also turned to questions of the philosophy of language, initially in mythological legends and religious texts, and then in philosophical and grammatical works. They recognized language as the supreme deity ("Rig Veda"). In the Vedic pantheon, the gods were distinguished, in whose jurisdiction linguistic activity is: the Goddess of Speech -Vacha, the Goddess of the sacred speech of Bharati, the Goddess of the true Speech of Varuna. In the Hindu pantheon, Speech (Vacha, Vach) began to be identified with Brahman - the impersonal absolute, the universal spiritual substance. Saraswati was assigned here the function of the Goddess of knowledge, wisdom and eloquence. In general, the discussion of the problems of language occupied the representatives of practically all the main systems of Indian religious philosophy: Brahmanism, Jainism, Buddhism, Hinduism. The linguophilosophical ideas of the leading representative of the "grammatical school" of philosophy, Bhartrihari (5-6 centuries AD), set forth in the famous work "Vakyapadiya" ("About a word and a sentence"), were especially widespread in India. He examines the issues of correlation between a sentence and a judgment in a philosophical aspect, defining a sentence as a single indivisible statement that expresses a single indivisible meaning. Bhartrihari, like other grammarians, considers a sentence to be the basic unit of language, since only it is capable of transmitting a thought, and words are artificial, in reality expressing nothing by the constructions of scientists. Therefore, ancient Indian grammarians are not interested in the word, they believe that words serve only to describe linguistic material, but they themselves are not included in this material. Bhartrihari distinguished three aspects of words: writing, phonological structure, and nominative function.

This thinker identified Brahman as the highest reality, which has no beginning or end,

[16] Баранников П. А. Возникновение и развитие обществ по распространению языка хинди в Индии // Письменные памятники и проблемы истории культуры народов Востока. Тезисы докладов II годичной научной сессии ЛО ИНА. Март 1966 года. Ленинград.

with the Word (Word-essence), from which the entire Universe with its infinite variety of objects and phenomena unfolds. The universe is, in his opinion, both that which should be expressed (expressed, signified), and that which should be expressed (expressing, signifying), namely words, speech. Bhartrihari believed that knowledge is intertwined with the word already in a newborn, that from this interweaving all human activity is born and science, art and crafts take their origins. He distinguished three stages that the Word passes through in its development: "visionary" (here speech is indivisible and eternal), "intermediate" (here the Word is a mental and not perceived by people essence, although it has a temporal sequence, as it were), and "exposed" (where articulated, sounding speech is observed). With an orientation toward the second stage, he formulates the concept of sphota as the central link in the entire "grammatical philosophy". Sphota is for him an indivisible linguistic symbol, a kind of state of consciousness communicated to the listener by means of speech sounds. The utterance is recognized as the main unit from which words are allocated, and not which is composed of words. They are distinguished by sphota of a sentence, sphota of a word, and even sphota of a phoneme (but not a sound).

Phonetics reached an unusually high development in ancient India, which was associated with the need to preserve the purity of the pronunciation of Vedic hymns. Long before the Greeks, the Indians distinguished vowels, consonants, and fricatives. They were familiar with the concept of a phoneme (sphota - see above), which they opposed to the sound of speech. The distinction between the sound of a language (phoneme) and the sound of speech was clearly drawn by Panini. Later, Indian linguists identified 8 varieties of each phoneme.

The description of sounds in the ancient Indian grammatical tradition was made on a physiological basis. Indian linguists described in detail the articulations of sounds, studied the work of the organs of the speech apparatus, and gave a clear classification of sounds according to the method and place of their formation. They first drew attention to the alternation of vowels, having developed the doctrine of the 3 steps of raising vowels. The basis (lowest) stage of alternation is the sounds [i] and [u], the first stage of ascent (guna) is formed by [a + i] = [ai] = [ē], [a + u] = [au] = [ō] , and the second step (vrdhi) [a] + the first step [ai + a] = [āi], [au + a] = [āu][17].

In morphology, three sections were distinguished:

1. Classification of parts of speech.
2. Formation of words.
3. Changing words[18]:

There were 4 parts of speech: name, verb, preposition and particle. Name is a word denoting an object; verb - a word denoting an action, both taking place at the present moment and already accomplished. Seven cases were singled out: nominative, accusative, instrumental, dative, defensive, genitive, local. At that time they were designated by numbers: 1,2 ... Prepositions were considered as indicative elements of the language, and the particles were divided into comparative, connecting and insignificant. Having turned to the analysis of words, Indo-European linguists distinguished roots, suffixes and endings in words. There were three categories of roots:

a) simple (primary);
b) generators;
c) derivatives.

Also in ancient India dictionaries were compiled. One of the first dictionaries - Nighantavas - lists of incomprehensible words used in the Vedas. In the 5th or 6th century. linguist Amara compiled a Sanskrit dictionary,

[17] Березин Ф.М. История лингвистических учений. С. 132.
[18] Алпатов В.М. История лингвистических учений. С. 168.

which is still widely used by European Sanskritologists[19].

European scholars became acquainted with Sanskrit and the ideas of ancient Indian grammar in the late 18th and early 19th centuries, which had a significant impact on the formation of comparative historical linguistics and its method. The founders of comparative studies believed that the ancient Indian language is the ancestor of all Indo-European languages, that it possesses the highest perfection that was lost in the development of descendant languages. Frequent appeal to the concepts developed by the ancient Indians and especially the analysis procedures is also observed in modern European and American linguistics. At the same time, it often cannot do without erroneous identification of the concepts put forward by ancient Indian science with similar concepts formulated in the European linguistic tradition, without sufficient consideration of differences in ethnocultural, general scientific and linguistic contexts. It should be noted the ethnocultural specificity of Indian science, which remained indifferent to the history and chronology of the emergence of grammatical treatises and dictionaries, which did not sharply change its guidelines. This explains the difficulty of dividing the history of Indian linguistics into ancient and medieval. The differences lie mainly in the emergence of a developed lexicography at the beginning of the Middle Ages and the formation, alongside the grammatical, of the lexicographic tradition. In the Middle Ages, the same, as in antiquity, can be traced, the motives for the subordination of linguistic studies to the practical needs of the restoration and re-creation of the ritual, now for the religious and yogic purposes of achieving the otherworldly.

Both in antiquity and in the Middle Ages, the language was understood by Indian thinkers as a type of activity (in contrast to European linguists, who saw in the language primarily a nomenclature of names). In the medieval period, attention to the word increased, since the teachings of Buddha Gautama / Shakyamuni (6th century BC) replaced the Vedic-Brahmanist ideology, which placed at the forefront the authority of the Vedic-Brahmanical ideology, in the depths of which the works of Panini and his contemporaries were formed. Buddha refused to bow before the authority of the Vedas and replaced them with conversations and sermons of the teacher - sutras, which already have a different structure and cover almost the entire semantic-psychic sphere of human life, which put the meaning of the word in the center of attention. Representatives of classical grammar continued to interpret the texts of the Vedas, and semantic linguists began to interpret the teachings of the Buddha. Brahminical-minded Panini and his successors showed interest in the way of expression, in the form of the texts, and the representatives of Buddhist ideology - in the content side of the texts. This was due to the difference in the sets of terms. By the end of the 1st millennium AD. Buddhist religion lost its position in India due to the revival of Brahmanism in the face of Hinduism, which again strengthened the position of the Panini tradition. Both in antiquity and in the Middle Ages, the goals of describing the language, its intended purpose for specific addressees, were taken into account. Indian scholars have developed procedures for establishing and classifying in the analysis of the language of units of a finite set not found in direct experience, refusing to distinguish between their essence and phenomenon. They had an inherent belief that the superhuman author taught people language as a matrix, i.e. a curtailed form of knowledge, developed further by the efforts of people. Many medieval commentators on Panini's work are known who worked in line with his tradition: Patanjali, Katyayana, Buddhist Chandragomin (5th century), Jain Digambar Jainendra (5th century), Jain Shvetambar Shakatayana (8th

[19] Баранников А.П., Баранников П.А. Хиндустани (хинди и урду). Грамматический очерк / Под общей редакцией М.Н.Сотникова. М.: Издательство литературы на иностранных языках, 1956.

century). They tried to make Panini's book even more concise[20]. Appears connected by their method with the grammar of Panini and at the same time, as if revising her grammatical treatises "Dhatupatha", "Gana-patha", as well as Chandragomin's "Unadisutra", where the author distinguishes between the morpheme and the word, claiming that the latter has a referent ... On the basis of Panini's model, Prakrit grammars (codified in the literature forms of Middle Indian speech) are created: Vararuchi, Hemachandra (13th century). The object of grammatical description is the Pali language, which served southern Buddhism. The authors of works on the Pali language Kacchayana, Sanghanandin, Brahmadatta are guided mainly by Aindra's pre-Paninian grammar school. The first dictionaries appear. The Buddhist Amarasimha (5th century) laid down the principles of Indian lexicography (grouping words according to meaningful features, an ordered list of synonyms, a list of ambiguous words with interpretations, and the poetic form of dictionary entries for memorization). He was followed by the Hindu Halayudha, the Jain Hemachandra (11-13 centuries). Attention is drawn to the classification of vocabulary in accordance with the classification of world phenomena adopted at that time, the groping of indivisible one-sided units of content (analogous to the figures of content in L. Yelmslev), and the distinction between primary and secondary meanings of words. At the next stage in the development of Buddhist thought, the concept of mantra appears - an utterance as an atom of purposeful linguistic activity, as a unity of figures of expression (phonemes) and figures of content.

Subsequently, (taking into account the yogic use of language), which was the last fundamental achievement of medieval Indian linguistic thought, the understanding of meaning as a quantity determined by an extra-linguistic context, situation, pragmatic factors was formed, which was in good agreement with the general understanding of language as a mode of activity.

In modern India, its own linguistic tradition is still alive, although Indian scholars and especially their Western colleagues are striving to apply the methods of comparative historical, areal, structural, generative linguistics developed in the Western tradition to the study of Sanskrit and other Indo-Aryan languages.

Prof. Dr. Zilola Khudaybergenova
University of Bartın
Republic of Turkey

[20] Березин Ф.М. История лингвистических учений. С.24.

3

बौद्ध जातक कथाओं एवं भारतीय लोक कथाओं की परम्परा : कुछ विचार

चेयर वरिष्ठ प्रोफेसर उपुल रंजित हेवावितानगमगे

Abstract

This paper mainly deals with the narrative tradition of the Indian sub-continent. Although the *Ja:təkə* tales are considered as tales belonging to Buddhism, according to the opinion of some scholars these are considered as folklore of India. By the way, this article throws a light on the evolution of the tradition of Indian Folk Tales. Further showing how far they have moderated and mixed with the Buddhist *Ja:təkə* tales in the context of religious edification after the considerable period of time of Buddha's *parinirva:ṇə*. The '*Karmə* concept' is considered as the central point of Buddhist philosophy. However, the discussion of this concept is found in the tradition of Indian folk tales as well. We should discuss this further, about how the *Karmə* concept became included within the folk tales of the tribal people who are living in the dense forests.

यह सर्वमान्य है कि 'जातक' शीर्षक के अन्तर्गत आने वाली कथाएँ बौद्ध धर्म की ही देन हैं। बौद्ध धर्म का प्रार्दुभाव ई. पू. छठवीं शताब्दी में हुआ था, जिसके संस्थापक गौतम बुद्ध थे। भारतीय धार्मिक इतिहास में ई. पू. छठवीं शताब्दी का विशेष उल्लेख इसलिए किया जाता है कि जहाँ ब्राह्मण धर्म होते हुए अनेक धर्मों तथा दार्शनिक विचारों की भारी चर्चा होती रही अथवा बौद्धिक उफान सक्रिय रहा, जो चीन, ग्रीस, ईरान आदि में देशों में भी द्रष्टव्य है।[1] उनमें से बौद्ध धर्म ने भारतीय धर्म परम्परा को नया आयाम अवश्य दिया था[2], जिसे वर्तमान में भी एक विश्वीय धर्म के रूप में मान्यता दी जाती है।[3]

व्युत्पत्ति की दृष्टि से प्रायः सभी विद्वान एक ही मत पर सहमत होते हैं कि 'जातक' शब्द संस्कृत 'जात' शब्द से उत्पन्न हुआ है, जो संस्कृत 'जन' धातु से विकसित है और जिसका अर्थ 'जन्म' कहा जाता है।[4] आर. सी. चइल्डर्स के विवरण का उल्लेख करते हुए बी. सी. लो कहते हैं कि 'जातक' शब्द का अर्थ 'जन्म' या 'उत्पत्ति' है, अपितु बौद्ध साहित्य में इसका अर्थ कुछ हद तक पृथक हो गया है, जैसे कि 'पूर्व जन्म या पूर्व अस्तित्व'। 'जातक कथा' का अर्थ यह हुआ है कि 'गौतम बुद्ध के पूर्व-जन्मों या पूर्व-अस्तित्वतों से सम्बन्धित कथा'।[5] विन्टनिट्स के विवरण में यह कहा गया है कि 'गौतम बुद्ध के अतीत भवों के जन्मों से सम्बन्धित कथा याने बोधिसत्त कथा'[6] 'जातक' कहलाती है।[7] गोकुलदास दे का कहना है कि मूलतः 'जातक' शब्द का अर्थ वह कथा है, जिसमें बौद्ध धर्म से सम्बन्धित कुछ नैतिक तत्व निरूपित हैं।[8] फिर भी, 'जातक' शब्द युगीन परिस्थितियों तथा पश्चातकालीन भिक्षु सम्प्रदायों के अनुसार विभिन्न अर्थ अपनाते हुए दिखाई देते हैं।[9] यद्यपि साधारणतः 'जातक' का अर्थ 'बोधिसत्व की जन्म-कथा' है, तथापि इसका उपयोग त्रिपिटक)विनय, सुत्त, अभिधम्म (याने बौद्ध-धर्म-ग्रन्थों याने पालि-धर्म-ग्रन्थों (Buddhist Canon/*Pāli* Canon) के सुत्तपिटक के खुद्दकनिकाय

के अन्तर्गत आने वाले 15 ग्रन्थों[10] में दसवें स्थान पर उपस्थित 'जातक' याने 'जातकपालि' का परिचय देने के लिए भी किया गया है[11], जिसमें केवल ऐसी गाथाएँ ही हैं, उनसे सम्बन्धित गद्य कथा के बिना उनका कोई अर्थ नहीं निकाला जा सकता। सिंहली भाष में 'जातक' शब्द का उपयोग उस समुचित ग्रंथ के लिए किया गया है, जिसमें कथा, गाथाएँ तथा उन पर की गयी टीकाएँ) भाष्य (आती हैं।[12] यह मानना अनुचित नहीं होगा कि पूर्व-जन्म-सिद्धान्त बौद्ध-धर्म की केन्द्रीय अवधारणा या संकल्पना होने हेतु उससे सम्बन्धित कथाओं को 'जातक' नाम इसलिए दिया गया होगा कि जिसमें 'उत्पत्ति' या 'जन्म' का अर्थ स्पष्टतः निरूपित है। यह भी विदित होता है कि 'जातक' का अर्थ युगीन परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तित होता रहा हो।

वस्तुतः एक कथा-सम्प्रदाय के दृष्टिकोण से जातक का मूल प्राग-बौद्ध-युग तक निश्चित किया जाता है। इसमें एक ओर भारतीय धर्म परम्पराओं में धर्मोपदेश दिये जाने की प्रक्रिया में विद्यमान सादृश्य पर ध्यान आकर्षित किया जाता है। अन्यतः भारतीय लोक साहित्य परम्परा से इसका अभिन्न सम्पर्क दृष्टिगत होने पर भी चर्चा की जाती है।

वेदों के प्रारम्भ से लेकर, जिसका प्रादुर्भाव ई॰ पू॰ 1000 माना जाता है, लगभग 400 वर्षों में विद्यमान धर्म-परम्पराओं के धर्मोपदेश दिये जाने की विधि में तो सादृश्य अवश्य दिखाई पड़ता है। बोधगम्य कथाओं, गाथाओं या कविताओं आदि के माध्यम से शिक्षा दिलाने या गम्भीर धार्मिक विषयों को सर्वसाधारण करने की प्रथा न केवल तद्युगीन भारतीय धार्मिक परम्पराओं द्वारा अपनायी गयी, बल्कि विश्व के अन्य धार्मिक परम्पराओं ने भी।[13] गोकुलदास दे द्वारा प्रस्तुत तथ्यानुसार प्राग-बौद्ध-युग के साधारण ग्रामीण जनता को शिक्षा दिलाने हेतु चारणों ने आख्यानों का उपयोग किया था, जो गाथाओं के रूप में थे।[14] वैदिक परम्परा के अधीन आने वाले वेद, ब्राह्मण, उपनिषद, पुराण[15] आदि ग्रन्थों में इसी कथा-परम्परा से सम्बन्धित विभिन्न कथाएँ मिल जाती हैं।[16] यह कहना अनुचित न होगा कि ये सभी कथाएँ भी तत्कालीन लोक समाज में प्रचलित लोककथा परम्परा पर ही आधारित हैं।

प्राग-बौद्ध भारतीय समाज में ब्राह्मण-धर्म याने वैदिक-धर्म की स्थायिता निर्विवाद है। साथ-साथ, तद्युग में गैर-वैदिक श्रमण-सम्प्रदाय का अस्तित्व भी देखने को मिलता है, जो वैदिक-धर्म के प्रमुख विचारों से पूर्णतः पृथक था। ई॰ जे॰ तोमस का मानना है कि यही श्रमण-प्रथा याने श्रमण-संस्कृति भारतीय समाज की प्रारम्भिक अवधि से ही प्रचलित थी।[17] कुछ भारतविज्ञों का कहना है कि यह श्रमण-सम्प्रदाय, जिससे बौद्ध-धर्म तथा जैन-धर्म सम्बद्ध हैं, प्राग-वैदिक तथा प्राग-आर्य माना जाता है।[18] जगदीशचन्द्र जैन के विचारानुसार श्रमण-संस्कृति मुख्यतः निवृत्तिप्रधान थी, जबकि वैदिक-धर्म प्रवृत्तिप्रधान। अतः निवृत्तिप्रधान श्रमण-संस्कृति से प्रवृत्तिप्रधान वैदिक-धर्म की ब्राह्मण-संस्कृति मेल नहीं खाती।[19] इस संस्कृति के अधीन मुख्यतः बौद्ध-धर्म तथा जैन-धर्म द्वारा कथाओं के सहारे अपने-अपने धार्मिक उपदेशों को अनुयायियों तक पहुँचाये जाने की प्रवृत्ति विद्यमान थी, जो विशेषतः भारत के पूर्व-क्षेत्र की लोकवार्ता पर आधारित थी।[20] लेकिन ये कथाएँ कैसी थीं? इस सन्दर्भ में जगदीशचन्द्र जैन कहते हैं कि श्रमण-संस्कृति में अहिंसा, संयम, तप, त्याग, ब्रह्मचर्य, आत्मदमन, कर्म-सिद्धान्त और जाति-विरोध की मुख्यता प्रतिपादित की गयी है। अतः श्रमण-संस्कृति सम्बन्धी कथाएँ ब्राह्मणों के पौराणिक साहित्य पर आधारित न होकर सामान्य जीवन की लोकगाथाओं पर आधारित हैं।[21] इस मत का समर्थन देनेवाला विन्टनिट्स का विवरण इस प्रकार है :बौद्ध भिक्षुओं ने धर्मोपदेश देने के उद्देश्य से अनेक कथाओं, जैसे परी-कथा, पशु-कथा,

चुटकुला इत्यादि का प्रयोग किया है।[22] अधिकांशतः विद्वानों का यही मानना है कि जातक, उद्भव के रूप में तथा अन्तर्वस्तु के अनुसार पूर्णतया बौद्ध-धर्म से सम्बद्ध नहीं है, जिन्हें बौद्ध-धर्म के प्रचारकों द्वारा विस्तृत तथा समृद्ध लोक-वार्ता भंडार से गृहीत तथा रूपान्तरित किया गया है।[23] एल्॰ डी॰ बार्नेट का कहना है कि अधिकांश कथाएँ सचमुच, गौतम बुद्ध से भी प्राचीन हैं, और प्राचीनतम् भारतीय लोक साहित्य से सम्बद्ध हैं।[24] गोकुलदास दे के विचारानुसार भी जातक, प्राग-बौद्ध-युग के भारतीय लोक-वार्ता भण्डार से सम्बद्ध किया गया है।[25] रिस् डेविड्स यह मानते हैं कि यह)जातक (सबसे प्राचीन, अतिशय सम्पूर्ण तथा अत्यन्त महत्वपूर्ण, वर्तमान में उपलब्ध लोकवार्ता संकलन है।[26] इस सन्दर्भ में विन्टनिट्स द्वारा प्रतिपादित जातकों की अन्तर्वस्तु पर आधारित विवरण पर ध्यान देना अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रतीत होता है। उनके वर्गीकरणानुसार पशु-कथा, परी-कथा, चुटकुला, उपन्यास, नैतिक-कथा, कहावत, पावन आख्यान आदि इसके अन्तर्गत हैं, जिनमें से कुछ का प्रादुर्भाव अंशतः बौद्ध-धर्म से सम्बद्ध है। और अधिकांशतः का सम्बन्ध भारतीय श्रमण-काव्य-सम्प्रदाय की मामूली सम्पत्ति से है।[27] इसका कारण बताते हुए वे आगे कहते हैं कि बौद्ध भिक्षुओं के रूप में जिन लोगों को संघ याने भिक्षु-समाज में प्रवेश होने का अवसर दिया गया, वे समाज के विभिन्न स्तरों के थे, जो मज़दूरों, कारीगरों तथा विशेष रूप से व्यापारियों से सम्बद्ध लोकप्रिय कथाओं तथा चुटकुलों से परिचित थे, और अन्यों, जिन्हें पुराने लोकगाथाओं, वीर-गानों का ज्ञान था, साथ-साथ ब्राह्मणों, वन्य-तापसों से पावन आख्यानों तथा पौराणिक कथाओं को सुननेवाले भी थे। बौद्ध-भिक्षुत्व प्राप्त किये जाने के पश्चात ऐसे लोगों द्वारा कालान्तर में अपने मन में रखी गयी स्मृतियों को धर्म से जोड़ दिये जाने की प्रवृत्ति सम्भव है।[28]

तत्कालीन धार्मिक सम्प्रदायों पर इसी कथा-परम्परा के प्रभाव को सुस्पष्ट करते हुए जगदीशचन्द्र जैन कहते हैं कि लोक व्यवहार में प्रचलित कथाएँ किसी भू-भाग या क्षेत्र जैसे बन्धनों से मुक्त थीं, साथ-साथ किसी वर्ग, कुल, वर्ण आदि तक सीमित न रहीं। इन्हें किसी-न-किसी धर्म-गुरु या सन्त द्वारा अपनाया जा सकता था। बाद में यही कथाएँ उपदेशात्मक कथा साहित्य का अंग बनते हुए नैतिक-कथाओं के रूप में बदल गयीं, जो समकालीन सामाजिक माँग के अनूरूप हुई हैं।[29] भदंत आनन्द कौसल्यायन थेरो ने यह अनुमान लगाया है कि किसी अंश में तो अबौद्ध और बौद्ध साहित्य दोनों एक ही परम्परा के ऋणी हैं। प्राचीनकाल का कथा साहित्य आज की तरह स्पष्ट रूप से बौद्ध और अबौद्ध विभागों में विभक्त नहीं था। उस समय एक ही कथा ने बौद्धों के हाथों बौद्ध रूप और अबौद्ध कलाकारों के हाथों पड़कर अबौद्ध रूप धारण किया होगा।[30] ऐसी कथा परम्परा के क्रमिक विकास का और एक संकेत बौद्ध-धर्म-ग्रन्थों में ही दृष्टिगत होता है। उदाहरणतः सुत्तपिटक के दीघनिकाय के सीलक्खन्धवग्ग के अन्तर्गत आने वाले ब्रह्मजालसुत्त में भिक्षुओं को प्रारम्भिक शील का विवरण देते हुए गौतम बुद्ध ने कहा है कि राजकथा, चोरकथा आदि व्यर्थ कथाओं को त्याग देना चाहिए।[31] 'पालि जातकट्ठकथा' के प्रथम निपात में आने वाली चौथी कथा 'चुल्लसट्ठि जातक' (No: 004) की वर्तमान कथा)पच्चुप्पण्णवत्थु (में एक ऐसी घटना द्रष्टव्य है। गौतम बुद्ध धर्म-सभा में पधारे और भिक्षुओं को सम्बोधित करते हुए उन्होंने पूछा कि "इस समय क्या कथा चल रही थी?" भिक्षुओं ने उत्तर दिया कि "भन्ते, यहाँ हम कोई फजूल बात)तिरश्चीन कथा (नहीं कर रहे थे।"[32] पॉट्ठपादसुत्त में परिव्राजकों के एक परिवार में राजकथा, चोरकथा तथा ग्रामकथा आदि व्यर्थ कथाओं

की चर्चा होने का उल्लेख मिलता है।[33] विनयपिटक के महावग्ग में उल्लिखित 'तिरच्छानकथा' के अन्तर्गत बारह कथा-वर्ग आते हैं, जैसे राजकथा, चोरकथा, महामत्तकथा, सेनाकथा, युद्धकथा, अन्नपानवत्थुकथा, ञातिकथा, नगरजनपदकथा, इत्थिकथा, सूरकथा, समुद्दक्खायिकम, इतिभावभवकथा आदि।[34] इस सन्दर्भ में गोकुलदास दे का कहना है कि ऐसे ऐहिक विषयों का अध्ययन भिक्षुओं के लिए नहीं था, जिन्हें विहारों में आने वाले उपासकों को उपदेश देने हेतु अपनाया गया होगा।[35] विन्टनिट्स के कथनानुसार विनयपिटक के अतिरिक्त सुत्तपिटक के दीघनिकाय में भिक्षुओं के बीच अधिक शोर के साथ सम्वाद को निषेध किया गया, जो एक दूसरे को राजकथा, चोरकथा, महामात्यकथा, शस्त्रकथा, युद्धकथा, स्त्रीकथा, देव तथा भूतकथा, साहसिक-समुद्रयात्रकथा आदि सुनाते हैं।[36] अंगुत्तरनिकाय में, गौतम बुद्ध द्वारा घोषित एक-एक विषय में पारंगत भिक्षुओं और भिक्षुणियों की जो सूची दी गयी है, जिसमें धर्म-प्रवचन की कला में प्रमुख भिक्षु पुण्णमन्तानिपुत्त, कथा कहने की कला में निपुण भिक्षु कुमार कस्सप तथा पूर्वजन्म-विषयक प्रमुख भिक्षु सोभित आदि आते हैं।[37] इससे यह स्पष्ट होता है कि तत्कालीन कथा-सम्प्रदाय के अनुसार कथा कहने तथा कथा सुनने की प्रक्रिया को बौद्ध-धर्म ने पूरी तरह अपनाया है और पुनर्जन्म-विषय प्रमुख होने से बौद्ध-धर्म के साथ 'जातक' के सम्बन्ध का भी एक स्पष्ट तथ्य मिल ही जाता है। समग्रतः यह कहा जा सकता है कि तत्कालीन समाज में प्रचलित ना-ना प्रकार के कथा-वर्गों से युक्त कथा-सम्प्रदाय होने की बात की पुष्टि अवश्य होती है और इसी परम्परा से जातक का सम्बन्ध भी अवश्य स्वीकार करना पड़ता है।

मानव समाज के प्रारम्भ से ही कर्म याने क्रिया (action) की अच्छाई या बुराई के सन्दर्भ में चर्चा अवश्य होती रही, जो नीति-शास्त्र का विश्वीय सिद्धान्त बन गयी। प्रत्येक व्यक्ति की सभी क्रियाओं के फल अवश्य अच्छे या बुरे, इन दोनों में से किसी एक के अधीन आ गये। कहा जाता है कि प्रत्येक मानव समाज की नींव में अच्छाई तथा बुराई की संकल्पना अन्तर्निहित है, जो उस समाज की लोककथाओं में परिलक्षित होता है।[38] ई॰ जे॰ तोमस् का मानना यही है कि प्रत्येक क्रिया के फल का निर्णय उसकी अच्छाई या बुराई की स्थिति पर निर्भर होती है।[39] यह कर्म-सिद्धान्त (doctrine of karma) सही और गलत संकल्पना का ही अत्यन्त विस्तृत प्रस्तुतीकरण मानना अनुचित नहीं है।

यह निर्विवाद है कि कर्म-सिद्धान्त तथा पुनर्जन्म बौद्ध धर्म की केन्द्रीय-संकल्पना है। जातकों की विषयवस्तु का आधार भी यही है। उपर्युक्त प्रतिपादित 'जातक' शब्द के अर्थ विवरणों में भी इस बात की पुष्टि की गयी। बुद्धत्व-प्राप्ति के पश्चात बोधिमण्डप पर गौतम बुद्ध द्वारा अपने विमुक्ति-सुख का आनन्द लेते हुए भाषित निम्नांकित गाथा, 'उदान' याने 'प्रीति-वाक्य' से उपर्युक्त कथन की पुष्टि होती हैः

'अनेक जाति संसारं -सन्धा विस्सं अनिब्बिसं
गहकारकं गवेसन्तो -दुक्खाजाति पुनप्पुनं
गहकारक दिट्ठोसि -पुनगेहं न काहसि
सब्बा ते फासुका भग्गा -गहकूटं विसंखितं
विसंखार गतं चित्तं -तण्हानं खय मज्झगा ती।'[40]

'दुःखदायी जन्म बार-बार लेना पड़ा। मैं संसार में) शरीर रूपी गृह को बनाने वाले (गृह-कारक को पाने की खोज में निष्फल भटकता रहा। लेकिन गृह-कारक ! अब मैंने तुझे देख लिया।)अब (तू फिर गृह-निर्माण न कर सकेगा। तेरी सब कड़ियाँ टूट गयीं, गृह शिखर-बिखर गया। चित्त निर्वाण प्राप्त हो गया; तृष्णा का क्षय देख लिया।'[41]

बौद्ध-धर्म के अनुसार अनेक भवों में घूमने वाले सभी प्राणी प्रत्येक भव में अपने-अपने अच्छे-बुरे कर्मों

के साथ ही चलते फिरते हैं। वर्तमान भव अतीत भव का ही अक्षुण्ण फल है। अन्यतः सभी घटनाएँ एक ही घटना-क्रम की ही कड़ियाँ होती हैं।

कर्म-सिद्धान्त की चर्चा केवल बौद्ध-धर्म की ही देन नहीं है।[42] इसकी चर्चा 'बृहदारण्यक' तथा 'छान्दोग्य' उपनिषदों में भी उपलब्ध है।[43] फिर भी, बौद्ध-धर्म में कर्म-सिद्धान्त का विवरण न केवल उपनिषदों से पृथक ही था, बल्कि जैन-धर्म से भी।[44] बुद्ध काल में प्रचलित कर्म से सम्बन्धित अनेक विचारों के संकेत त्रिपिटक में ही मिल जाते हैं। सुत्तपिटक के दीघनिकाय के सीलक्खन्धवग्ग में आने वाले सामञ्ञफलसुत्त[45] में तत्कालीन आचार्यों द्वारा राजा अजातशत्रु के कर्म और फल से सम्बन्धित प्रश्नों पर दिये गये विवरणों से विदित होता है कि कर्म-संकल्पना पर न केवल तत्कालीन धर्माचार्यों के बीच, बल्कि समाज के उच्चस्तरीय वर्ग से लेकर साधारण जनता तक अनवरत चर्चा होती रही।

कर्म-संकल्पना की चर्चा का प्रभाव तत्कालीन कथा-साहित्य पर अवश्य पड़ा। यह विशद है कि कर्म और फल के अच्छे तथा बुरे परिणामों के बारे में लोगों को बोध दिलाने हेतु कथाओं का उपयोग अत्यन्त महत्वपूर्ण रहा। क्योंकि, यह एक ऐसा तरीका था, जिससे किसी मनुष्य के जीवन में घटी अच्छी या बुरी घटनाओं को लेकर कर्म और फल के परिणाम विश्वसनीय रूप में प्रस्तुत किया जा सके। यहाँ पर गोकुलदास दे द्वारा प्रतिपादित तथ्य पर ध्यान देना उचित प्रतीत समझता हूँ। उनके मतानुसार बुद्ध-युग से लेकर प्रथम-धर्म-संगीति तक की अवधि में कर्म-संकल्पना पर बल देने वाली लोककथाएँ तथा लोकगाथाएँ लोकप्रिय थीं, उन्हें धर्म-ग्रन्थों में भी सम्मिलित किया गया था।[46]

कर्म और फल से सम्बन्धित लोककथाओं के सन्दर्भ में और एक तथ्य पर ध्यान आकर्षित करवाना अत्यन्त आवश्यक समझता हूँ, जिसके बारे में पहले किसी का ध्यान नहीं गया हो। आश्चर्य की बात यह है कि कुछ आदिवासी लोककथाओं में भी कर्म और फल के परिणामों की चर्चा हुई है। यह एक विशेष बात समझनी चाहिए। अमीर हसन तथा सीमिन हसन द्वारा सम्पादित *Folktales of Uttar Pradesh Tribes* संज्ञक ग्रंथ में ऐसी आदिवासी लोककथाएँ संगृहीत हैं, जिनमें कर्म और फल, पुनर्जन्म तथा पाप और पुण्य विषयक लोककथाएँ आती हैं,[47] जो जातकों की अन्तर्वस्तु से सीधा सम्बन्ध रखती हैं। यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि क्या कर्म-सिद्धान्त की चर्चा श्रमण-धर्म, उपनिषद आदि से भी पुरानी है? यदि यह ऐसा होता है तो हमें इतिहास के अन्धकार कोणों को उज्जवलित करने का एक नया प्रकाश अवश्य मिल जाएगा। लोककथाएँ एक 'वैकल्पिक इतिहास' मानी जाती हैं। ऐसी दृष्टि से देखा जाए तो, आदिवासियों की लोककथाओं पर ध्यान देने से यह पता चल जाएगा कि भारतीय कथा साहित्य लोककथा सम्प्रदाय से किस तरह प्रभावित हुआ है, और विशेषतः जातकों का लोककथा सम्प्रदाय से किस प्रकार का सम्पर्क रहा। कृष्णदेव उपाध्याय ने ऐसा अनुमान लगाया है कि 'बृहत्कथा' के रचयिता गुणाढ्य पंडित ने मूल रूप में कथाओं को उन लोगों से सुना होगा, जो नगर से दूर रहने वाले ग्रामीण या वन्य लोग थे।[48] क्या इससे भी लोककथा सम्प्रदाय में आदिवासियों के योगदान का संकेत मिलता है?

आशा है कि भावी अनुसन्धानकर्ता इस विषय-क्षेत्र की ओर अपना ध्यान आकर्षित करें। इस सन्दर्भ में जगदीशचन्द्र जैन अपने ग्रंथ *Pra:krit Narrative Literature* में संकेत दिया है कि आदिवासियों के क्षेत्रें में, (विशेषतः पश्चिम बंगाल, बिहार तथा उड़ीसा) एक विस्तृत पर्यवेक्षण अवश्य किया जाना चाहिए।[49] इसका तात्पर्य यह होगा कि एक तुलनात्मक अध्ययन से भारतीय कथा साहित्य इतिहास की सीमाओं को और भी विस्तृत किया जाए। समग्रतः यह स्पष्ट होता है कि जातकों के उद्भव के सन्दर्भ में भारतीय लोककथा एवं गाथा परम्पराओं का अनन्य योगदान

अवश्य रहा हो।

टिप्पणियाँ

1. Sixth century B. C. was remarkable for the spiritual unrest and intellectual ferment in many counties. In China we had Lao Tzu and Confucius, in Greece Parmendes and Empedocles, in Iran Zarathustra, in India Mahavir and Buddha. In tha period many remarkable teaches worked upon their inheritance and developed new points of view. Bapat, P. V. (Edi.) (1977) **2500 years of Buddhism** [Forward by Radhakrishnan] p. v; *Cf.* Vaidya, P. L. 'Origin of Buddhism', *In* **2500 years of Buddhism** (1977) Bapat, P. V. (Edi.) pp. 8-17; शर्मा, हरद्वारी लाल (1990) लोकवार्ता विज्ञान **I**, पृ॰ 319; Singhal, D. P. (1972) **India and World Civilization**, **Vol. I**, pp. 17-18
2. Having taken stock of the trends of philosophical speculations before the coming of the Buddha, it will now be clear why he thought of a new faith which at once caught the imagination of the people and was accepted by millions. Vaidya, P. L. 'Origin of Buddhism', *In* **2500 years of Buddhism** (1977) Bapat, P. V. (Edi.) pp. 8-17
3. ...however, largely the Brahmans, Jains and other sects might have contributed to Indian narrative literature. Buddhism alone pressed forward far beyond the limits of India as a world-religion, thus diffusing Indian civilisation and literature far and wide in all countries of the East and West... . Winternitz, M. (1977) **History of Indian Literature, Vol. II**, p. 154
4. See, Monier-Williams, Monier (1986) **Sanskrit-English Dictionary**, p. 417
5. Law, B. C. (1930) **A Study of Mahāvastu**, p. 4
6. यह शीर्षक केवल बोधिसत्त संकल्प के उभरने के पश्चात प्रयोग में आया है।
7. Winternitz, M. (1977) **History of Indian Literature, Vol. II**, p. 113
8. The word Ja:taka when used originally meant a story illustrating some moral with special reference to Buddhism. De, Gokuldas (1951) **Significnce and Improtance of Ja:takas**, p. 17
9. Ibid., pp. 66, 92-93
10. .1खुद्दकपाठ .2धम्मपद .3उदान .4 इतिवुत्तक .5सुत्तनिपात .6विमानवत्थु .7पेतवत्थु .8थेरगाथा .9थेरीगाथा .10 जातक .11निद्देस .12पटिसंभिदामग्ग .13 अपदान .14बुद्धवन्स .15चरियापिटक , कौसल्यायन, भदंत आनंद)अनु॰ (1985) (**जातक I**, पृ॰ 5
11. The 'Book of *Ja:takas'* however, is one of the fifteen collections of texts forming Khuddkanik:ya (collection of smaller texts) of the Tripiṭaka. This 'Ja:taka Book' consists of 'ga:tha:s' or stanzas only, and is divided into 22 sections (nipa:ta) ... Winternitz, M. 'Ja:taka' *In* **Encyclopædia of Religion and Ethics, Vol. VII**, Hastings, James (Edi.) (1959) p. 491
12. The word Ja:taka is used in Sinhalese to mean the whole of text; the story, verses, and commentary on the verses. Godakumbure, C. E. (1996) **Sinhalese Literature**, p. 35
13. (a) जैन विद्वानों को कहानी कहने का शौक था। वह इसलिए कि जन साधारण में अपने धर्म का प्रचार करने की उनमें लगन थी। विशुद्ध धार्मिक सिद्धांतों का लोगों को रुचिकर होता नहीं, इसलिए वे उसमें किसी मनोरंजक वार्ता, आख्यान अथवा दृष्टांत का समावेश कर उसे प्रभावकारी बनाने के लिए प्रयत्नशील रहते थे। ...जैन, जगदीशचन्द्र (1971)**प्राकृत जैन कथा साहित्य**, पृ॰ 167

    (b)... while there are many points of

difference between the sects. Śve:ta:mbara and Digambara shared their love of stories, which they often used to teach ethical concepts and even to illustrate abstruse points of doctrine. ... Granoff, Phyllis (1998) **The Forest of Theives and the Magic Garden: An Anthology of Medieval Jain Stories**, p. 4

(c) ... even the stories incorporated in the older literary works like the Homeric poems and the Bible are regarded as records of folktales. ...Mishra, Jayakantha (1951) **Introduction to the Folk Literature of Mithila (Part II - Prose)**, p. 15

14. ... In fact the 'Akkha:nas' in verse which were narrated and sung by the bards for the education of common people in villages from pre-Buddhistic times ... De, Gokuldas (1955) **Democracy in Early Buddhist Samgha**, p. 38

15. ...भारत में जो यह विश्वास प्रचलित है कि पुराण वेदों कि व्याख्या करते हैं, बिना पुराणों के वेद समझे नहीं जा सकते, यह बिलकुल निराधार नहीं। लोक-दृष्टि से वैदिक देवों कि व्याख्या पुराणों में देखी जा सकती है। इन सबसे यही सिद्ध होता है वेदों की बीज कहानियाँ ही पुराणों की कथाओं में पल्लवित-पुष्पित हुई है। ... सत्येन्द्र (1949)**ब्रज लोक साहित्य का अध्ययन**, पृ॰ 396

16. सांकृत्यायन, राहुल :उपाध्याय, कृष्णदेव)संपा॰ (1959) (**हिन्दी साहित्य का बृहत इतिहास**, षोडस भाग,) कृष्णदेव उपाध्याय कृत प्रस्तावना (पृ॰ 21, 110

17. Ascetic practices are found in very early stages of society. They appear in connection with ideas of tabu, or the sanctity of the priest and wonder worker and the exercise of magic. These have no necessary connection with any particular type of religious belife, and in the earliest known form of religion in India little of an ascetic tendency appears. ... Thomas, E. J. (1953) **History of Buddhist Thoughts**, p. 11

18. ... some indologists have suggested that it has a history going far back as pre-Vedic times. ...
Wijebandara, Chandima (1993) **Early Buddhism: Its Religious and Intellectual Milieu**, p.4

19. जैन, जगदीशचन्द्र ,(1971)प्राकृत जैन कथा साहित्य, पृ॰ 95

20. ... Jains and Buddhists used the folklore of Eastern India for the purpose of religious edificaton. ... Twaney, C. H. (Tr.) (1985) **The Katha:ko:ṣa or Treasury of Stories**, [Intro.], p. xvii

21. जैन, जगदीशचन्द्र ,(1971)प्राकृत जैन कथा साहित्य, पृ॰ 96

22. Winternitz, M. (1977) **History of Indian Literature, Vol. II**, p. 114

23. (a) Rahul Thero, Telwatte (1978) **A Criticle Study of Maha:vastu**, p. 88
(b) Geiger, Wilhelm (1956) **Pa:li Literature and Language**, p. 32

24. ... perhaps most of these tales are really older than the Buddha, and belong to the oldest folklore of India. Feer, M. L. (1963) **A Study of the Ja:takas : Analytical and Critical**, p. ?

25. De, Gokuldas (1951) **Significnce and Improtance of Ja:takas**, p. 2

26. ... it is the oldest, most complete, and most important collection of folklore extant. Davids, T. W. Rhys (1973) **Buddhist Birth Stories**, [Intro.] pp. iii-iv

27. ... all of whcih are only partly of Buddhist origin, while many of them belong to the common property of Indian ascetic poetry. ...Winternitz, M. (1977) **History of Indian Literature, Vol. II**, p. 125

28. ... The Buddhist monks were recruited from all classes: hence, there were many among them who were quite familiar with the popular tales and anecdotes of the workers, artisans and especially merchants; others, who knew well the old ballads and heroic songs of the warriors and yet others, who had often heard the sacred legends and myths of the brahmans and forest hermits. When they became monks, they endeavoured as far as possible to connect these memories with the monkish and purely religious traditions. ... Winternitz, M. (1977) **History of Indian Literature, Vol. II**, p. 125
29. ... These stories were free from any sectional or regional touch and not bound by any caste, creed or colour, they could be accommodated by any religious teacher or saint. Later, these tales were transformed into the tales of morality forming a part of didactic literature due to the social demand of the time. Jain, Jagdishchandra (1981) **Pra:krit Narrative Literature**, p. 181
30. कौसल्यायन, भदंत आनंद)अनु॰ (1985) (**जातक I**, पृ॰ 25
31. सांकृत्यायन, राहुल (1992) **पालि साहित्य का इतिहास**, पृ॰ 17
32. कौसल्यायन, भदंत आनंद)अनु॰ (1985) (**जातक I**, पृ॰ 149; *Cf.* Cowell, E. B. (Edi.) (2001) **The Ja:taka**, p. 18; **पंसिय् पनस् जातक पाँत् वहन्से**) (2001) सिं॰ (p 73 .
33. सांकृत्यायन, राहुल (1992) **पालि साहित्य का इतिहास**, पृ॰ 31
34. ... (1) Tales of kings (Ra:jakatha:), (2) Tales of robbers (Cho:rakatha:), (3) Tales of ministers (Maha:mattakatha:), (4) Tales of war (Se:na:katha:), (5) Tales of battels (Yuddhakatha:), (6) Tales of food, drink and clothes (Annapa:navattukatha:), (7) Tales of relations and acquaintances (Ńa:tikatha:), (8) Tales of villages and towns (Nagarajanapadakatha:), (9) Tales of women (Ittikatha:), (10) Tales of heros (Su:rakatha:), (11) Speculations about creation of the land or sea (Samuddakkha:yikam), (12) Discussions about the existence or non-existence of the self (Itibha:vabhavakatha:). De, Gokuldas (1955) **Democracy in Early Buddhist Samgha**, p. 38
35. ... It can fairly be assumed that such knowledge of worldly things was ordinarily imparted to laymen who came to the Viha:ra in quest of them for earning their livelihood in the world. ... (It must be definitely understood that these subjects were never meant for Bhikkhus and that those who were in charge of them merely discussed them with a view to bringing out their morals.)De, Gokuldas (1955) **Democracy in Early Buddhist Samgha**, p. 38: *Cf.* Winternitz, M. (1977) **History of Indian Literature, Vol. II**, p. 114
36. ... The more rigorous Buddhist Theras of the older days do not seem to have been greatly in favour of this story-telling, for several passages of the canon (Vinayapiṭaka, Maha:vagga V 6.3; Di:ghanika:ya I, 17; IX, 3; XXV. 2; 21) speak disapprovingly of the loud conversation of the monks, who tell one another stories of kings, robbers, ministers, arms, wars, women, god and spirits, sea-faring adventures etc. Winternitz, M. (1977) **History of Indian Literature, Vol. II**, p. 114
37. De, Gokuldas (1955) **Democracy in Early Buddhist Samgha**, pp. 37-38
38. (a)... The concept of right and wrong, found in every human society, is best reflected in folktales. ...Mukharji, Priyadarshi (1999) **Chinese and Tibetan**

Societies through Folk Literature, p. xix (b) The Menesians also ascribed the creation of the world to two bird-brothers. One brother was wise and kind, and he created fertile earth; the other, who was stupid and mean, did his best to spoil it. Dimitriyev, Yuri (1988) **Man and Animals**, p. 20

39. ... Any act as judged by its results may be good or bad. This is a far wider conception than the question of right and wrong. ...Thomas, E. J. (1953) **History of Buddhist Thoughts**, p. 107

40. **पंसिय् पनस् जातक पॉत् वहन्से**) (2001) सिं॰ (p 30 .

41. कौसल्यायन, भदंत आनंद)अनु॰ (1985) (**जातक I**, पृ॰ 94

42. People were discussing karma before the time of the Buddha, of course. The idea of karmic fruits, however, was not generally recognized at that time. These vague ideas of karma were incorporated into Buddhism and systematically interpreted in a uniquely Buddhist manner as a law of cause and effect. ... Akira, Hirakawa (1990) **A History of Indian Buddhism**, p. 18

43. McDermott, James Paul (1984) **Development in the Early Buddhist Concept of Kamma/Karma**, pp. 1-2; *Cf.* Akira, Hirakawa (1990) **A History of Indian Buddhism**, p. 18

44. Wijebandara, Chandima (1993) **Early Buddhism: Its Religious and Intellectual Milieu**, pp. 162-166

45. सांकृत्यायन, राहुल (1992) **पालि साहित्य का इतिहास**, पृ॰ 19, 23

46. De, Gokuldas (1951) **Significnce and Improtance of Jātakas**, p. 66

47. Hasan, Amir and Hasan, Seemin (1982) **Folktales of Uttar Pradesh Tribes**, pp. 30-31, 46- 47, 117-118

48. ... संस्कृत में विशाल कथा साहित्य के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि गुणाढ्य की 'बृहतकथा' तथा सोमदेव के 'कथासरितसागर' में जिन कथाओं का संकलन हुआ है, वे वास्तव में लोककथाएँ ही थीं, जो इस देश में विभिन्न प्रदेशों में फैली हुई थीं। 'कथासरितसागर' की प्रस्तावना में बताया गया है कि इन कथाओं का मूल वक्ता कोई अभिशप्त गंधर्व था, जो शापवश विंध्याटवी में आ गया था। इससे अनुमान किया जा सकता है कि गुणाढ्य पंडित ने मूल रूप में इन कथाओं को नगर से दूर रहने वाले ग्रामीण या वन्य लोगों से सुना होगा। ...सांकृत्यायन, राहुल : उपाध्याय, कृष्णदेव)संपा॰ (1959) (**हिन्दी साहित्य का बृहत इतिहास**, षोडस भाग,)कृष्णदेव उपाध्याय कृत प्रस्तावना (पृ॰ 8-7; *Cf.* Twaney, C. H. (Tr.) (1968) The Ocean of Story, Vol. I, [Forward by R. C. Temple], pp. xi-xxvi

49. A fresh attempt should be made to make a through survey of the tribal areas, particularly in the regions of West Bengal, Bihar and Orissa. Jain, Jagdishchandra (1981) **Pra:krit Narrative Literature**, p. 201

लघु संकेत :

– = संवृत्त 'अ' (ə) जातक (**ja:təkə**)
(अनु॰) = अनुवाद
(सिं॰) = सिंहल/सिंहली भाषा
)Edi॰ = (Editor

चेयर वरिष्ठ प्रोफेसर उपुल रंजित हेवावितानगमगे
Chair Senior Professor, Dept. of Hindi Studies, University of Kelaniya, Sri Lanka.

4 जयशंकर प्रसाद द्वारा लिखित कामायनी महाकाव्य पर वैदिक साहित्य का प्रभाव

डॉ .अन्जु शर्मा

हिन्दी साहित्य जगत में जयशंकर प्रसाद एक अपरिहार्य नाम है। उन्होंने काव्य, नाटक, उपन्यास, निबन्ध और कहानियों का निर्माण करके अपनी गहन प्रतिभा का प्रसाद हिन्दी साहित्य जगत को दिया। "प्रसाद जी की यह विशेषता थी कि वे कुछ विशेष आदर्शों के उपासक के युग में नवीन वस्तुस्थिति का नये युग की स्वस्थ मनुष्यता का, संचार करने वाले प्रथम पुरुष थे। उन्होंने अपने समय के आदर्शों की सीमा को, जो संकुचित हो रही थी, इतिहास और मनोविज्ञान की सहायता से बढ़ाने अथवा न बढ़े तो तोड़ने की चेष्टा की, इसलिए वे इस युग के सबसे पहले विद्रोही कवि हुए।"[1] आचार्य नंददुलारे वाजपेयी जी उनकी साहित्यिक कृतियों का मूल्यांकन करते हुए कहते हैं कि, "प्रसादजी एक नये साहित्यिक युग के निर्माता ही नहीं हैं, एक नई विचार शैली और नव्यदर्शन के उद्भावक भी हैं।"[2]

कामायनी उनका प्रसिद्ध महाकाव्य है, जिस पर वैदिक साहित्य की छाप दृष्टिगोचर होती है यही कारण है की उसे पंचम वेद की संज्ञा भी दी गयी है। "प्रसाद जी के अन्तःकरण में जो एक जीवित और जीवन्त, छटपटाती हुई, दुखती हुई ग्रन्थि है - वह आभ्यन्तर ग्रन्थि, अपने पूरे दुःख, अपने सम्पूर्ण ज्ञान, अपने पूरे आवेग और अपने सम्पूर्ण भान और भान के उलझाव के साथ कामायनी मे प्रकट हुई है। इस आभ्यन्तर ग्रन्थि का प्रतिनिधित्व करने वाला पात्र है मनु मानव-मात्र के मन का, प्रतीक नहीं, वह केवल उस मन का प्रतीक है जो प्रसाद जी का अपना या उन जैसा मन है।"[3]

यह कहना कदापि अतिशयोक्ति न होगा कि, "मनु उस जीवन-समस्या का प्रतीक है, कि जो जीवन-समस्या, किसी न किसी अंश में, प्रसादजी की अपनी समस्या रही है। इस जीवन-समस्या पर प्रसादजी चिरकाल चिरन्तर करते रहे। प्रसादजी ने स्वयं इस जीवन-समस्या को मानव - सभ्यता-संबंधी प्रश्नों से जोड़ दिया, उसे मावन आदर्शों और जीवन-मूल्यों-संबंधी प्रश्नों से संलग्न किया। इतना ही नहीं, वरन् उन्होंने उस जीवन-'समस्या का एक दार्शनिक निदान भी प्रस्तुत किया।"[4] प्रस्तुत शोधपत्र के माध्यम से हम कामायनी महाकाव्य पर वैदिक साहित्य के प्रभाव का अध्ययन करेंगे।

वैदिक साहित्य आशावाद की ओजपूर्ण, उत्साहमय भावना से ओत-प्रोत है। "कृधी न ऊर्जानश्चरथाय जीवसे।"[5] अर्थात् भगवन्! जीवन यात्रा से हमें समुन्नत कीजिए। "विश्वदानी सुमनसः स्याम पष्येम नु सूर्यमुच्चरन्तम्।"[6] अर्थात् हम सदा प्रसन्नचित्त रहते हुए उदीयमान सूर्य को देखें। "मदेम शतहीमाः सुवीरा।"[7] अर्थात् हमारी सन्तान वीर हो और हम अपने पूर्ण जीवन को प्रसन्नतापूर्वक व्यतीत करें।

तो वही कामायनी में भी के 'आशा सर्ग' में भी निराश होकर मनु को श्रद्धा द्वारा दिये गये आशीर्वाद के संवाद की सुन्दर संयोजना दृष्टि गोचर होती है। जहां श्रद्धा मनु से कहती है-

"तपस्वी क्यों इतने हो क्लांत ?
वेदना का ये कैसा वेग?

आह ! तुम इतने अधिक हताश
बताओ यह कैसा उद्वेग।''[8]

प्रत्युत्तर में मनु श्रद्धा से अपनी निराशा से अवगत कराते हुए कहते हैं कि जीवन कितना निरूपाय है ? और अन्ततः इस जीवन का परिणाम एकमात्र निराशा ही है। परंतु श्रद्धा मनु से सहमत नहीं होती। श्रद्धा उन्हें समझाते हुए कहती हैं कि -

''डरो मत अरे अमृत सन्तान
अग्रसर है मंगलमय वृद्धि
पूर्ण आकर्षण जीवन केन्द्र
खिची आवेगी सकल समृद्धि।''[9]

ठीक इसी प्रकार आत्मविश्वास और आत्मसम्मान के आदर्श के परिचायक और परिपोषक मंत्र और सूक्ति भी हमे वैदिक साहित्य में दृष्टिगोचर होते हैं -

''अहमस्मि सहमान उत्तरो नाम भूम्याम्।
अभीषाडस्मि विष्वाषाडामाषां विषासहिः।।''[10]

अर्थात् मैं स्वभावतः विजयशील हूँ। पृथ्वी पर मेरा उत्कृष्ट पद है । मैं विरोधी शक्तियों को परास्त कर, समस्त विघ्न-विधाओं को दबाकर प्रत्येक दिशा में सफलता पाने वाला हूँ। कामायनी में भी मानव में आत्मविश्वास और आत्मसम्मान की यही भावना दिखलाई पड़ती है-

''तेरी आज्ञा का कर पालन
वह स्नेह सदा करता लालन
मैं मरूँ जिऊँ पर छुटे न प्रन
वरदान बने मेरा जीवन।''[11]

वैदिक साहित्य में कर्मण्यशील बनने के लिए असख्य उपदेश हैं। ''आरोहणमाक्रमणं जीवतो जीवतोयनम्''[12] अर्थात् ऊपर उठना और आगे बढ़ना प्रत्येक जीव का लक्ष्य है। कामायनी की नायिका श्रद्धा के कथनों में भी हमें कर्मण्यशील बनने की झलक स्पष्टरूप से दिखलाई देती है। उदाहरण दृष्टव्य है-

''और यह क्या तुम सुनते नहीं
विधाता का मंगल वरदान
शक्तिशाली हो, विजयी बनो
विश्व में गूँल रहा जयगान।''[13]

वैदिक साहित्य में हमें दानशीलता के असंख्य उदाहरण देखने को मिलते हैं। यही नहीं अर्थववेद में एक स्थल पर ईश्वर से लोगों को दान करने की प्रेरणा देने की कामना भी की गई है-

''अदित्सन्तं दापयतु प्रजानान्।''[14]

अर्थात् हे प्रभो ! दान न करने वाले को दान करने की प्रेरणा दीजिए। साथ ही त्याग करने की भावना भी मूल रूप से वैदिक साहित्य में विद्यमान है। दानशीलता की स्पष्ट झलक कामायनी में 'कर्म सर्ग' में मनु के संवाद में भी दृष्टिगोचर होती है-

''अपने में सब कुछ भर
कैसे व्यक्ति विकास करेगा ?
वह एकान्त स्वार्थ भीषण है
अपना नाश करेगा।''[15]

वैदिक ऋषियों द्वारा प्रकृति का बहुत ही सुन्दर और सजीव चित्रण वैदिक साहित्यों में हुआ है। ''इसका एकमात्र कारण है कि उन्होंने प्राकृतिक देव शक्तियों को अपने ही जीवन के चश्मे से देखा था। उनके द्वारा रचित साहित्य में प्रकृति अपने समग्र सौन्दर्य को लेकर अवतरित हुई है। प्रकृति की विविधता की भाँति ही उनके द्वारा किए गये उनके चित्रणों में भी विविधता और अनेकता का होना स्वाभाविक ही है। यही कारण है कि ऋग्वेद का कवि जो सिन्धु को स्पष्ट रेखाओं से चित्रित करता है; और अरण्याली को उसके चिर-परिचित रूप में छन्दोबद्ध करता है, वही उषा, रात्रि और वरूण आदि के अतीन्द्रिय सौन्दर्य का भावन भी करता है । इसके साथ ही वह जीवन और सृष्टि के विषय में गूढ़ जिज्ञासाओं को भी वाणी प्रदान करता है।''[16]

प्रसाद के कामायनी महाकाव्य में भी तात्त्विक दृष्टि से प्रकृति के जड़ व चेतन दोनों रूपों में एक ही

सत्ता को स्वीकार किया गया है। उनकी दृष्टि में जड़ प्रकृति और चेतन प्रकृति में किसी प्रकार का कोई भेद है ही नहीं -

"नीचे जल था, ऊपर हिम था
एक तरल था, एक सघन;
एक तत्त्व की ही प्रधानता
कहो उसे जड़ या चेतन।"[17]

कामायनी के रचयिता कविवर जयशंकर प्रसाद प्राचीन साहित्य में उपलब्ध देव-सृष्टि-सम्बन्धी संकेतों में पूर्ण विश्वास करते थे। कामायनी के आमुख में दिए गए उनके वक्तव्य में भी उन्होंने 'शतपथब्राह्मण' में उल्लिखित, जल-प्लावन में देवों की सृष्टि से विनष्ट होने और तत्पश्चात 'मनु' द्वारा नयी मानव-सृष्टि का प्रवर्तन को स्वीकारा है तथा उस कथा को उन्होंने अपने महाकाव्य 'कामायनी ' का मूल विषय बनाया है। देव-सृष्टि और मानव-सृष्टि के मध्यस्थ व्यक्ति का अभिनय करने वाले मनु स्वयं अपने सन्दर्भ में कहते हैं कि -

"आज अमरता का जीवित हूँ
मै वह भीषण जर्जर दम्भ;
आह सर्ग के प्रथम अंक का
अधम पात्र-मय -सा विष्कंभ।"[18]

वस्तुतः प्रसाद जी का मानना था कि परिवर्तन संसार का नियम है जो सदैव से होता रहा है और भविष्य में भी होता रहेगा। वह कहते हैं कि-

"युगों की चट्टानों पर सृष्टि
डाल पदचिन्ह चली गम्भीर
देव, गन्धर्व, असुर की पंक्ति
अनुसरण करती उसे अधीर।"[19]

वैदिक ऋषि न केवल मनुष्यों को अपितु सभी जीवों को भी मित्र-दृष्टि से देखना अपना कर्तव्य समझते थे। यही कारण है कि वैदिक साहित्य में दया एवं जीवों पर दया करने को कहा गया है। अथर्ववेद में जीवों के प्रति उपेक्षा न करने का निर्देष स्पष्ट रूप से हुआ है, "मा जीवेभ्यः प्रमदः।"[20] कामायनी में विश्व-बन्धुत्व की भावना को सर्वाधिक महत्व दिया है। 'कामायनी' महाकाव्य के 'आनन्द सर्ग' में प्रसाद जी केवल स्वयं ही विश्वास नहीं करते वरन् दूसरों के लिए भी उसकी व्याख्या करते हैं-

"सब भेद-भाव भुलवा कर
दुख-सुख को दृष्य बनाता
मानव कह रे ! यह मैं हूँ
यह विश्व नीड़ बन जाता।"[21]

कामायनी के काव्यांश पर वैदिक कर्मकाण्ड एवं यज्ञ-विधान का प्रभाव स्पष्ट रूप से लक्षित होता है। ध्यान देने योग्य विषय यह है कि प्रसादजी ने यज्ञ को वैदिक - युगीन 'कर्म' के रूप में स्वीकार करते हुए 'कामायनी' के सर्ग का शीर्षक ही 'कर्म' रख दिया है। यह शीर्षक ही इस बात का पुष्ट प्रमाण है कि 'कामायनी' की कथा का यह वैदिक साहित्य से पूर्णतया प्रभावित है। जो विद्वान वैदिक कर्मकाण्ड से परिचित हैं, उन्हें यह भी भली-भाँति ज्ञात है कि यज्ञ के लिए पुरोहित का होना अनिवार्य है। कारण, अग्नि और पुरोहित यज्ञ के ये दो प्रमुख आधार है। 'कामायनी' में 'मनु' के सम्मुख जैसे ही समस्या मुँह बाकर खड़ी हुई, वैसे ही किलात- आकुलित सम्मुख पहुँचकर उनकी इस समस्या का समाधान कर देते हैं। वैदिक साहित्य में 'शतपथब्राह्मण' में भी किलाताकुलि असुर पुरोहितों को, पशु - माँस में रूचि होने के कारण, मनु को पुरोहित स्वीकार किया गया है। मनु को यज्ञ की प्रेरणा भी दोनों स्थलों पर इन्ही से मिली है।"[22] 'कामायनी' का एक उदाहरण दृष्टव्य है जो इस बात की पुष्टि भी करता है, जब मनु को यज्ञ करने के लिए प्रेरित किया जाता है-

"कहा असुर मित्रों ने

अपना मुख गम्भीर बनाये
जिनके लिए यज्ञ होगा
हम उनके भेजे आये।"[23]

अन्त में हम निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि वैदिक साहित्य और जयशंकर प्रसाद कृत 'कामायनी' महाकाव्य में मावनजाति के आध्यात्मिक विकास में पूर्णतया समानता है। "प्रसादजी की इतिहास-निष्ठा अत्यधिक महती एवं बलवती थी। उन्हें भारतीय संस्कृति एवं इतिहास से अत्यधिक स्नेह था। उन्होंने न केवल भारतीय इतिहास की सीमा का ही विस्तार किया, अपितु अव्यवस्थित रूप में पड़ी हुई ऐतिहासिक सामग्री को भी व्यवस्थित रूप प्रदान किया। 'मनु', 'श्रद्धा' और 'इड़ा' कामायनी के दो मुख्य पात्रों से संबंधित अनेक सूक्ष्म संकेत संहिताओं, ब्राह्मणों, उपनिषदों और पुराणों में विकीर्णावस्था में विद्यमान थे। 'छन्दोग्योपनिषद्' में 'मनु' और 'श्रद्धा' का भावात्मक रूप मिलता था तो 'शतपथब्राह्मण' में इतिवृत्तात्मक। ऋग्वेद में ही एक स्थल पर 'मनु' का यदि राजा रूप उपलब्ध होता था, तो दूसरे स्थल पर क्रान्तदर्शी ऋषि का। प्रसादजी ने उपलब्ध समस्त सामग्री का गहन अध्ययन एवं सूक्ष्म विवेचन किया और तदुपरान्त अपने विवेक के आधार पर अन्धकार के गर्त में पड़ी अनेक महान् विभूतियों को प्रकाश में लाकर खड़ा कर दिया।"[24]

सन्दर्भ सूची :--

1. जयशंकर प्रसाद, नंददुलारे वाजपेयी, भारती-भण्डार, लीडर प्रेस, प्रयाग, सं.-199 पृ .21
2. वही, पृ .02
3. कामायनी : एक पुनर्विचार, गजानन माधव मुक्तिबोध, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., नई दिल्ली, पृ .8-9
4. वही, पृ .9
5. ऋग्वेद, 1।36।14
6. वही, 6।52। 5
7. अथर्ववेद, 20।63।3
8. कामायनी, जयशंकर प्रसाद, भारती-भण्डार, लीडर प्रेस, प्रयाग, सं .2015, पृ .52
9. वही, पृ .54
10. अथर्ववेद, 12।1।54
11. कामायनी, जयशंकर प्रसाद, पृ .243
12. अथर्ववेद, 5।30।7
13. कामायनी, जयशंकर प्रसाद, पृ .59
14. अथर्ववेद, 3।20।8
15. कामायनी, जयशंकर प्रसाद, पृ .132
16. कामायनी पर वैदिक साहित्य का प्रभाव, कर्ण सिहं वर्मा, आदर्श साहित्य प्रकाशन दिल्ली, प्रथम सं .1972, पृ .189
17. कामायनी, जयशंकर प्रसाद, पृ .03
18. वही, पृ .18
19. वही, पृ .56
20. ऋग्वेद, 8।1। 7
21. कामायनी, जयशंकर प्रसाद, पृ .289
22. कामायनी पर वैदिक साहित्य का प्रभाव, कर्ण सिहं वर्मा, पृ .27
23. कामायनी, जयशंकर प्रसाद, पृ .114
24. कामायनी पर वैदिक साहित्य का प्रभाव, कर्ण सिहं वर्मा, पृ .77

डॉ .अन्जु शर्मा
प्रवक्ता, हिंदी विभाग,
एस. एस. डी. पी. सी. गर्ल्स डिग्री कॉलेज
रुड़की, हरिद्वार, उत्तराखंड

5

हिंदी गज़लों में अभिव्यक्त सामाजिक चेतना

प्रो. (डॉ.) सदानंद भोसले

साहित्यकार संवेदनशील होता है। वह अपने परिवेश को गहरी मानवीय संवेदनाओं के माध्यम से प्रस्तुत करता है। उसकी संवेदनागत अनुभूति संपेषित होकर अभिव्यंजना का रूप लेती है। साहित्य की सभी विधाओं में सबसे संवेदनशील विधा कविता है। काव्य अभिव्यंजना के मूल में भाव प्रमुख होते हैं। काव्य में भी सबसे अधिक कोमलकांत पदावली 'गज़ल' होती है। ग़ज़ल न केवल प्रेमानुभूति की अभिव्यक्ति का माध्यम है अपितु सामाजिक विसंगतियों को प्रभावी ढंग से प्रस्तुति का सशक्त साहित्यिक माध्यम भी है।

ग़ज़ल का स्वरूप:

'ग़ज़ल' अरबी भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ है -'प्रेमिका से वार्तालाप'। ग़ज़ल का केंद्रीय विषय प्रेम होता है।

ग़ज़ल के अंग :

किसी भी ग़ज़ल के पांच अंग होते हैं -शेर, मिसरा, काफिया, मतला और मक्ता। 'शेर': शेर अरबी भाषा का शब्द है, अर्थ है -केश। ग़ज़ल में शेरों की संख्या 5 से 11 मानी गई है। 'मिसरा': शेर की प्रत्येक पंक्ति को मिसरा कहते हैं। दो मिसरे से एक शेर बनता है। 'काफिया': काफिया शब्द 'फ्कू' से बना है, अर्थ है -पुनः पुनः बार-बार। अर्थात वह अक्षर समूह जो बार-बार शेरों में आकर शेरों को ग़ज़ल के सूत्र में बाँधता है। 'रदीफ': रदीफ का अर्थ है -'पीछे चलने वाली'। वह अक्षर, शब्द या शब्द समूह जो ग़ज़ल के प्रत्येक शेर में काफिये के पीछे लगातार दोहराया जाता है। 'ममला': ग़ज़ल का पहला शेर मतला कहलाता है। 'मक्ता': ग़ज़ल का अंतिम शेर मक्ता कहलाता है। आदिकालीन 'दोहा' छंद से निर्मित है।

हिंदी ग़ज़ल आज मुख्य विधा के रूप में प्रसिद्ध एवं प्रौढ़ बन गयी है। हिंदी ग़ज़ल का उद्भव हिंदी साहित्य के आदिकाल में अमीर खुसरों द्वारा हुआ। किंतु विधा के रूप में सृजन स्वतंत्रता के बाद आरंभ हुआ। इसमें शमशेर बहादुर सिंह और दुष्यंत कुमार का योगदान एवं भूमिका महत्वपूर्ण है। दुष्यंत कुमार का जन्म 01 सितंबर, 1933 ई .को बिजनौर जिले के राजपुरनवाद गाँव, उत्तर प्रदेश में हुआ। दुष्यंत कुमार ने ग़ज़ल लेखन की परंपरा शमशेर बहादुर सिंह से प्राप्त की। वे लिखते हैं -"ग़ज़ल का चस्का मुझे खुद शमशेर बहादुर सिंह की ग़ज़ले सुनकर लगा था।"[21] अपनी ग़ज़ल के माध्यम से दुष्यंत कुमार ने आम जनता की पीड़ा, संघर्ष, विडंबना, विद्रुपता, सामाजिक, राजनीतिक विसंगतियों को प्रभावी ढंग से मुखर किया है। सन् 1975 में उनका 'साये में धूप' ग़ज़ल संग्रह प्रकाशित हुआ। अपने लेखन की प्रतिबद्धता को स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं -"ये ग़ज़ले व्यक्तिगत पीड़ा और सामाजिक वैषम्य की देन हैं। सत्ता का सलूक, शोषित-पराजित इन्सान की विवशता, संघर्ष और घुटन, राजनीतिक साजिश, परिवर्तन और क्रांति की जरूरत आदि अनेक मुद्दों को दुष्यंत ने इन ग़ज़लों में सफलतापूर्वक बांधा है। उनमें महज भावुकता नहीं, बौद्धिक नज़रिया भी है।"[22]

---

[21]) साये में धूप, दुष्यंत कुमार, राधाकृष्ण प्रकाशन, लि . दिल्ली, 19वाँ सं,2000. पृष्ठ -15

[22]) वही, पृष्ठ -27

दुष्यंत कुमार ने ग़ज़ल के कथ्य को नई दिशा एवं धार प्रदान की। परंपरागत ग़ज़लों की प्रेम और श्रृंगार भावभिव्यंजना के स्थान पर आम जनता के विविध विषयों की सशक्त माध्यम बनाने का श्रेय दुष्यंतकुमार को ही जाता है। दुष्यंत कुमार से प्रेरित होकर भारतीय साहित्य में कई लेखकों ने ग़ज़ले लिखी, लिख रहे हैं। हिंदी ग़ज़लों द्वारा सामाजिक बोध को अभिव्यक्त करनेवाले लेखक हैं -जहीर कुरेशी, गिरिराजशरण अग्रवाल, बालगोविंद द्विवेदी, अमर ज्योति 'नदीम', कृष्ण शलभ, कर्नल तिलकराज, गोपालबाबु शर्मा, नरेश शांडिल्य, बेधडक बनारसी, देवमणि पांडेय, किशन स्वरूप, अदम गोंडवी, तेजपाल सिंह 'तेज', डॉ .ब्रह्जीत गौतम, सुरेंद्र चतुर्वेदी, चंद्रसेन विराट और निश्तर खानकाही आदि।

आधुनिक ग़ज़लकारों ने सामाजिक विषमताओं, विद्रुपताओं पर अपनी कलम चलायी है। चूँकि लेखक उस समाज का अगुआ होता है, पथप्रदर्शक एवं मार्गदर्शक होता है, अपनी रचनाओं के माध्यम से समाजव्यवस्था को संचालित करनेवाले शासकों पर नियंत्रण रखता है। वर्तमान जीवन के यथार्थ का बोध करते हुए ग़ज़ल लेखकों ने आम आदमी का नारकीय जीवन, असुविधा, विषमता, आत्मकेंद्री मानसिकता, मानवीमूल्यों का हनन, बेइमानी, भ्रष्टाचार आदि को शब्दबद्ध किया है।

आम आदमी का नारकीय जीवन:

आज़ादी के 70 वर्ष बाद भी आम आदमी के जीवन में लोकतंत्र के सूरज का आलोक नहीं पहुँचा है वे अंधेरे गर्त में ही अपना जीवन जी रहे हैं। कई नागरिकों के नसीब में पक्के मकान नहीं है, पेय जल नहीं है, चुनावी योजनओं का अंबार लगा हुआ है किंतु आम आदमी का नारकीय जीवन दिन-ब-दिन नारकीय होता जा रहा है। इसी पीड़ा को अभिव्यक्त करते हुए गिरिराजशरण अग्रवाल लिखते हैं-

"दिन-रात बरसाती रहती है, सूखे में भी छत घर की
अब किस-किस को बतलाउँ मैं, कैसी है हालत घर की
भूख यहाँ सपने बुनती है, सर्दी लोरी गाती है
इच्छाएँ होली-सी जलती, हालत यह औसत घर की।"[23]

सामाजिक विषमता की अभिव्यक्ति :

संविधान की किताब का हवाला देकर हर सत्ताधारी समता, ममता, भाईचारा, सुजलाम् और सुफलाम् का नारा देता है। बावजूद इसके आम जनता के हालात बद-से-बदतर होते नज़र आ रहे हैं। लोकतंत्र के नाम पर डर ऐसा है कि लोग संवेदनाहीन बने हैं, गूंगे हुए हैं, मानो ओंठ सी गए हो। इसी विषमतावाली सामाजिक परिस्थिति को दर्शाते हुए बालगोविंद द्विवेदी लिखते हैं-

"बिखरे हुए संकल्प, जहर पी रहे हैं लोगमजबूर है, मुर्दे की तरह जी रहे हैं लोगअपहरण-लूट चल रहे व्यापार की तरहगूँगे हुए-सहमें हैं, ओंठ सी रहे है लोग।"[24]

आत्मकेंद्री मानसिकता और मानवीयमूल्यों का हनन :

आत्मकेंद्री वृत्ति के परिणाम स्वरूप आज आदमी घर में, रास्ते पर और समाज में अकेलापन महसूस कर रहा है। एक छत के नीचे रहनेवालों में कई दिनों से संवाद नहीं है। इसलिए घर परिवार नहीं रहा है, इसलिए मानवीय मूल्यों का पतन हो रहा है। इसी चिंता को जाहीर करते हुए जहीर कुरेशी लिखते हैं-

"घर में रहकर भी नहीं संवाद, हम दोनों के

---

[23]) सन्नाटे में गूँज ,गिरिराजशरण अग्रवाल, हिंदी साहित्य निकेतन बिजनौर, ,1982पृष्ठ 34 –

[24]) यथार्थ की सिहरन ,बालगोविंद द्विवेदी, मीमांसा प्रकाशन, कानपुर, ,2003 पृष्ठ 28 –

बीचमौन पसरा है कई हफ्तों से, संबंधों के बीच।"[25]

गली में घर और घरवालों की रक्षा का दायित्व गलीवालों पर रहता है। पडोसी धर्म में सुरक्षा भाव विद्यमान होता है। किंतु आज यह भाव बस्तियों में अक़्सर नज़र नहीं आता है। आत्मकेंद्री का विस्तार इतना हुआ है कि एक ही गली में रहनेवाले एक दूसरों पर शिकारी कुत्तों की भाँति हमला कर रहे हैं। किसको कितनी गहरी चोट लगी है, इससे उन्हें कोई मतलब नहीं है। इसी कटु सत्य से रू-ब-रू कराते हुए गिरिराजशरण अग्रवाल लिखते हैं-

"किस को मन की बात सुनाएँ,
ऐसी बंजर बस्ती मेंजंगल छिपे बैठे हैं,
सबके अंदर बस्ती में किसको कितनी चोट लगी है,
उनको इससे मतलब क्या
नोंच रहे हैं माँस शिकारी कुत्ते खुलकर बस्ती में।"[26]

जन्म देने वाली माँ को अपने ही बच्चों के स्वार्थी व्यवहार का डर बार-बार सता रहा है। दो बेटों का झगड़ा उसकी चिंता का कारण है। क्या दोनों में बटवारा होगा ? इसी डर ने उसकी सारी खुशियाँ छीनी है। पुरखों के घर के बटवारे के साथ क्या उसका भी बटवारा होगा ? वह भी बाँटी जाएगी ? इसी चिंता में घर-घर माँ की साँसे अटकी हुई हैं। हर माँ की इसी घुटन को कृष्ण ने शब्दबद्ध किया है, वे लिखते हैं-

"जाने क्या-क्या सोचे बैठी-बैठी रामजन्म की माँ,खुद ही खुद से बातें करती रहती रामजनम की माँ
x x x xजब से दोनों बेटे बोले, अम्मा घर
तकसीम करोतब से अंदर फोडा जैसे रिसती रामजनम की माँ
x x x x
कैसे मेरा हिस्सा होगा कैसे बाँटी जाउँगीइस चिंता में जीती है न मरती रामजनम की माँ।"[27]

बेईमानों पर व्यंग्य:

ईमानदारी इन्सान का सर्वश्रेष्ठ मानवीय गुण है। इसी गुण के कारण व्यक्ति ईश्वरी रूप धारण का अधिकारी बन जाता है। इंसान अपने सद्शील व्यवहार के कारण ही दूसरों की स्मृति का सुंदर हिस्सा बन जाता है। इसी ईमानदारी के चलते कोई भी मानव समाज श्रेष्ठता की ऊँचाई को छू लेता है। किंतु वर्तमान में धीरे-धीरे समाज से ईमानदारी का गुण ओझल होता जा रहा है। आज़ादी के बाद तो हम बात-बात में झूठ, फरेब और ठगी का अनुभव कर रहे हैं। इसी अनुभव को साझा करते हुए दुष्यंत कुमार लिखते हैं-

"दुकानदार तो मेले में लुट गये यारों,
तमाशबीन दुकाने लगा के बैठ गये।"[28]

संसार के सभी प्राणियों में मात्र आदमी ही आदमी को देखकर हँसता है। उसकी इसी हँसी में उसे दूसरे आदमी पर यकीन है कि स्नेह मिलेगा, सौहार्द भरा व्यवहार होगा और यही उम्मीद लगा के वह दूसरे आदमी के साथ आत्मीयता से व्यवहार करता है किंतु कई बार वह फूल की जगह काँटे ही पाता है। इसी स्नेहहीन बर्ताव को प्रस्तुत करते हुए गोपालबाबु शर्मा लिखते हैं-

"एक क्या, दो बार क्या अक्सर मिलेआदमी के रूप में अजगर मिले
फुल की उम्मीद थी जिनसे हमें क्या करें, काँटे मिले, नश्तर मिले।"[29]

---

25) भीड़ में सबसे अलग ,जहीर कुरेशी, मेधा बुक्स, न्यू शहदरा, नई दिल्ली ,2003 ,पृष्ठ 1 –

26) सन्नाटे में गूँज ,गिरिराजशरण अग्रवाल, प्रतिभा प्रतिष्ठान, नई दिल्ली, ,1987पृष्ठ 9 –

27) तीसरा गज़ल शतक संपा .शेरजंग गर्ग, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, ,2009पृष्ठ 53 –

28) साये में धूप , दुष्यंत कुमार, पृष्ठ -22

29) हिंदी गज़ल का वर्तमान दशक ,सरदार मुजावर, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, ,2001 पृष्ठ –

भारतीय समाज जीवन में परिवार में परवरिश का मुख्य मंत्र था- संस्कारशील चरित्रों का निर्माण। इन्हीं चरित्रों का निर्माण करते थे- दादा-दादी, नाना-नानी और माता-पिता आदि। अब ये सारे घर में कहाँ हैं ? घोर अस्तित्ववादी मानसिकता ने इन सभी संज्ञाओं को अर्थहीन बना दिया है। कैरियर की अंधी दौड़ के कारण पारिवारिक संस्कारहीनता की ओर इशारा करते हुए नरेश शांडिल्य लिखते हैं-

"अब न रहीं वो दादी-नानी
कौन सुनाए आज कहानी
पाप दफ्तर, लझन, गुस्सा
अम्मा चुल्हा, बरतन पानी।" [30]

संवेदनाहीन महानगरीय जीवन का लेखाजोखा :

भारतीय सभ्यता एवं परंपरा को ध्यान में रखकर तमाम भारतीयों को महात्मा गांधी ने गाँव की ओर जाने का रचनात्मक संदेश दिया था। च्यूँकि भारत के समृद्धि की नींव गाँव की कृषि संस्कृति है। सर्वोदय का सिद्धांत उन्होंने गांवों के विकास के लिए दिया था। किंतु गांधी की सच्चाई को हमने कहाँ सुना, हम गांव को छोड़कर महानगरों की ओर चल पड़े हैं। परिणामत :महानगर की बूनियादी सुविधाएँ चरमरा गई हैं। कुडे के अंबार लगे हैं, गटर की गंदगी से स्वास्थ्य की समस्याओं ने नगरवासियों को मृत्यु के दरवाजे पर ला खड़ा किया है। बीमार अस्पताल के साथ डॉक्टर भी बीमार हुए हैं। इसी भयानक यथार्थ को वाणी देते हुए बालगोविंद द्विवेदी लिखते हैं-

"मौसम की मार झेलकर, इठला रहा नगर
हत्या और लूट का घर, कहला रहा नगर
x x x x
नरकों में श्रेष्ठ नर्क, कहला रहा नगर
बीमार अस्पताल हैं, बीमार डॉक्टर
x x x x
लक्ष्मी की आरती में, इठला रहा नगर।"[31]

महानगरीय जीवन ने आदमी को आत्मकेंद्री बना दिया है। भीड़ में भी लोग अकेले हैं। समाज संवेदनाशून्य बनता जा रहा है। हर आदमी अपनी जिंदगी में मग्न है। पड़ोसी धर्म, भाई-चारा तो लगभग खत्म ही हुआ है। सहायता हेतु दरवाजे और खिड़कियाँ खुलना अब बंद हुआ है। इसी तथ्य को दुष्यंत कुमार स्पष्ट करते हैं-

"इस शहर में वो कोई बारात हो या वारदात
अब किसी की भी बात पर खुलती नहीं हैं
खिड़कियाँ।"[32]

यांत्रिक जीवन की अभिव्यक्ति :

संसार की सभी मानव सभ्यताओं के विकास का मूलाधार उनका भौगोलिक स्थान है। धर्म, भक्ति, अध्यात्म तथा वैज्ञानिक विकास का आधार प्रकृति ही है। किंतु वर्तमान सदी में जीवन यापन करनेवाले मानव समाज ने प्रकृतिपूरक जीवन सूत्र की ओर अनदेखी की है। सारे त्यौहार प्रकृति-पर्यावरण पूरक सहजीवन के आधार सूत्र हैं। हमें तनावों से मुक्ति देते हैं, निरोगी जीवन का पाठ पढ़ाते हैं। इस नई सदी में आते-आते हम विनम्रता से बड़ों के आगे झूकना और दोस्तों को गले लगाना भूल गए हैं। इसी यांत्रिकता को उजागर करते हुए देवमणि पांडये लिखते हैं-

"नई सदी के रंग में ढलकर हम याराना भूल गए
सबने ढूँढे अपने रास्ते।"[33]

राजनीतिक विसंगतियों पर व्यंग्य :

किसी भी राजसत्ता का राजधर्म होता है- जनता की सेवा, जनता का कल्याण। राजनेता प्रजाहितैषी

147

30) मैं सदियों की प्यास ,नरेश शांडिल्य, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, ,2006पृष्ठ 102 –

31) यथार्थ की सिहरन ,बालगोविंद द्विवेदी, पृष्ठ 48 –

32) साये में धूप - दुष्यंत कुमार, पृष्ठ -20

33) तीसरा गज़ल शतक संपा .शेरजंग गर्ग, पृष्ठ 70 –

होता है। उसकी प्रत्येक योजना में लोकमंगल का भाव विद्यमान होता है। तात्पर्य यह कि निस्वार्थी भाव से जनसेवा ही राजनेता का परम कर्तव्य होता है। हमारा देश तो दुनिया का सबसे बहुत लोकतांत्रिक देश है। दुर्भाग्य से धीरे-धीरे स्वार्थी राजनेता सत्ताकेंद्र में पहुँच गए हैं। और उन्होंने शुरू की है स्वार्थ जनित बरबर सियासत। लोकतंत्र की इसी विद्रुपता को दर्शाते हुए अदम गोंडवी लिखते हैं-

"खुदा का वास्ता देकर किसी का घर जला देना

ये मज़हब की वफ़ादारी हक़ीकत में सियासी है।"[34]

आज़ाद भारत देश ने संविधान को स्वीकार किया। इसी संविधान के चलते हाशिये पर रखा हुआ सर्वहारा समाज मुख्यधारा में पहुँच रहा है। संविधान ने हमें अभिव्यक्ति की आज़ादी प्रदान की है। किंतु वर्तमान राजनेता के भड़काने एवं नफरत फैलानेवाले भाषण सुनकर क्या हम महसूस कर सकते हैं कि ये तमाम नेता प्यार का दीपक जलाने आए हैं ? नहीं, सच तो यह है कि ये नेता आम आदमी को जलाकर अपनी रोटियाँ सेकने पर तुले हुए हैं। ऐसे ही सर फिरे नेता की पोल खोलते हुए जहीर कुरेशी लिखते हैं-

"वे अपने भाषणों द्वारा नफ़रत फैलाने आते हैं

वे तीली से दीप नहीं, बस्तियाँ जलाने आते हैं।"[35]

आम आदमी के कल्याण का ढोंग रचकर घिनौनी सियासत की जाती है, फिर कोई अन्ना हजारे जैसा इक्का-दुक्का आम जनता की संवेदना का सहारा बनकर जन आंदोलन का मोर्चा संभालता है। किंतु क्या एक अन्ना हजारे से बात बनेगी? च्यूँकि राजनीति के हर मोड़ पर सियासी गिद्ध घात लगाए बैठे हैं, जो आम जनता को नोच रहे हैं। इस संदर्भ में अदम गोंडवी लिखते हैं-

"मोहतरम अन्ना हजारे आप कर पायेंगे क्या

ये शहर शीशे का है और संगदिल सरकार है।"[36]

किसी भी सम्य समाज में राजनेता का आचरण सदाचारी होना आवश्यक है। किंतु आज राननीति के क्षेत्र में भ्रष्टाचार ही शीर्ष स्थान पर है। लोकतंत्र के बहाने भ्रष्टाचारी नेता को सरेआम सम्मानित किया जा रहा है। उनका भाव बढ़ गया है। मानवता का नहीं दानवता का विस्तार हो रहा है। इसी परिस्थिति पर व्यंग्य कसते हुए तेजपाल सिंह 'तेज' लिखते हैं-

"मानवता को दिखा आईना

दानवता का क्षेत्र बढ़ा है

लोकतंत्र के गलियारों में

भ्रष्टजनों का भाव बढ़ा है"[37]

आज़ादी के बाद लोक-कल्याण के लिए पंचवर्षीय योजना का निर्माण हुआ। शोषित, वंचित, दलित, सर्वहारा भारतीय समाज के जीवन में संपन्नता लाने के लिए इन्हीं योजनाओं के माध्यम से दिवास्वप्न दिखाये गए। वादों पर वादे किए गए। सच तो यह है कि आजादी के 70 वर्ष बाद भी गॉवों की स्थिति बद-से-बदजर हुई है। गरीबी रेखा के नीचे जीनेवाले की संख्या बढ़ती जा रही है। वाह रे लोकतंत्र !लोकतंत्र की आड़ में बनवाई गई सरकारी योजनाओं के भ्रष्ट चरित्र की पोल खोलते हुए दुष्यंत कुमार लिखते हैं-

"यहाँ तक आते-आते सूख जाती हैं कई नदियाँ

मुझे मालूम है पीनी कहा ठहरा हुआ होगा"[38]

चुनावी हथकंडों की अभिव्यक्ति :

लोकतंत्र के नाम पर चुनावी खेल जाता है। हर बार भ्रष्ट को चरित्रहीन नायक के रूप में स्थापित करने की साजिश रची जाती है। मदारी के बंदर की

---

34) धरती की सतह पर ,अदम गोंडवी, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली ,2012 ,पृष्ठ 37 –

35) समंदर ब्याहने नहीं आया है ,जहीर कुरेशी, अयन प्रकाशन, महरौली, दिल्ली ,1992 ,पृष्ठ –

36) धरती की सतह पर ,अदम गोंडवी, पृष्ठ 23 –

37) गुजरा हूँ जिधर से ,तेजपाल सिंह, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, ,2006 पृष्ठ 85 –

38) साये में धूप, दुष्यंत कुमार, पृष्ठ -15

तरह जनता को नचाया जाता है। सत्तापक्ष और विपक्ष की भाषा एक-दूसरे को पूरक होती है, दोनों ही जन-सभा में आम जनता को झुन-झुने की भाँति बजाते हैं। इस संदर्भ में दुष्यंत कुमार लिखत हैं-

"जिस तरह चाहो बजाओ इस सभा में,
हम नहीं हैं आदमी, हम झुन झुने हैं।"[39]

लोकतंत्र में जनता बहुमत से अपने नेता का चयन करती है। जिसके पास बहुमत होगा वह सत्ता में और अल्पमत विपक्ष में। बहुमत की परिभाषा भी बड़ी अजीब होती है। तात्पर्य यह कि कोई दल एक की ज्यादा संख्या से बहुमत में आ जाता है और बचे हुए एक से कम हैं इसलिए अल्पमत में मान लिए जाते हैं। इसी बहुमत को हासिल करने हेतु राजनेता स्वच्छंदी बन जाते हैं, चुनकर आने के लिए नये-नये हथकंडे अपनाते है। कई दफ़ा लोकतंत्र का गला काटते हैं। इनकी करतूतों को देख मतदाता मतिमंद हो जाते हैं, लोकतंत्र पराजित होता है और स्वच्छंदी नेता जीत जाते हैं। नेता के इसी स्वच्छंदीतंत्र को समझाते हुए बेधड़क बनारसी लिखते हैं-

"लीड़र स्वच्छंद हो गये।
कौवे निष्पंद हो गये।
ऐसे-ऐसे उम्मीदवार हैं।
वोटर मतिमंद हो गये।
जीर्ण-शीर्ण लोकतंत्र के।
इलेक्शन पैबंद हो गये।।"[40]

संसदीय गरिमा का अवमूल्यन :

भारतीय लोकतंत्र की सर्वोच्य पंचायत संसद है। प्रजातंत्र की गरिमा को और गरिमामय बनाते हुए हम चुनाव के माध्यम से सभी राज्यों एवं केंद्रशासीत प्रदेशों से सांसदों को भेजते हैं। संसद में भारतीय नागरिकों के सर्वांगीण विकास के लिए गहन, गंभीर विमर्श कर सर्व सम्मति से निर्णय लिए जाते हैं। इस कार्यवाही में संसद की पवित्रता को ध्यान में रखा जाता है। संसदीय कार्य का एक-एक मिनट बहुत ही मूल्यवान होता है। उसके केंद्र में भारतीय समाज होता है। किंतु वर्तमान में संसदीय कार्यवाही में उसकी पवित्रता को भंग होते हुए हमने कई बार देखा है। संसद में चुने हुए नेता जब एक दूसरे को नीचा दिखाने के लिए जूते, चप्पल एवं भद्दी गालियों की बौछार करते हैं तब बहुत ही दुःख होता है। मन उदास होता है, लोकतंत्र शर्मसार होता है। सत्ता की मारा-मारी में प्रजातंत्र परास्त होता है। मगज में एक ही सवाल बार-बार परेशान करता है, क्या होगा हमारे देश का भविष्य ? इसी पीड़ा को वाणी देते हुए तेजपाल सिंह 'तेज' लिखते हैं-

"आज संसद की भी क्या शालीनता है
जूते, चप्पल, गलियों से बात होती है
x x x x
संसद-संसद खुला हनन है सत्ता की मारा-मारी में
मानवता का हुआ पतन है।"[41]

आर्थिक विषमता :

किसी भी देश की जनता का जीवनस्तर ऊँचा उठाने के लिए अर्थ की आवश्यकता होती है। अर्थ का संबंध सीधे रोटी से जुड़ जाता है। देश की जनता के अर्थार्जन हेतु सरकार ने रोजगार के अवसर निर्माण करने चाहिए। रोजगार का समान अवसर भी मिलना चाहिए। यदि असमान विभाजन होता है तो देश की जनता भूख और बेरोजगारी से बेहाल हो जाती है। आज भारतीय समाज में बेरोजगारी के चलते करोड़ों लोग भूखे, अधनंगे बेघर जीवन जी रहे हैं। जनतंत्र तो जनता की सभी आवश्यकता की पूर्ति करता है, क्या यह सत्य है ? लोकतंत्र में हमने रामराज्य की कल्पना

---

39) वही, पृष्ठ -42

40) बेधड़क बनारसी -हिंदी गज़ल उद्भव और विकास , रोहिताश्व अस्थाना, सामायिक प्रकाशन, नई दिल्ली, ,1987 पृष्ठ 153 –

41) गुजरा हूँ जिधर से ,तेजपाल सिंह, पृष्ठ 85 –

की थी, क्या वह साकार हुआ है? कब आयेगा रामराज्य? हर दिन करोडों भारतीयों के मन में उठनेवाले इन्हीं सवालों को अभिव्यक्त करते हुए तेजपाल सिंह 'तेज' लिखते हैं-

"पटरी बिस्तर, ईंट का तकिया
ता पर सिध धर सोने हरिया
टूटी जूती, फटा घागरा
कब तक सींने भूखी धनिया।"[42]

लोकतंत्र में लोग ही सर्व शक्तिमान होते हैं किंतु सच्चाई कुछ और है। संविधान की किताब में मात्र हम सब समान हैं। कईयों के पास बड़े मकान, बड़ी हवेलियाँ और महल हैं, तो बहुतों को आसमाँ के नीचे गुजारा करना पड़ता है, क्या यही है लोकतंत्र की समता की परिभाषा ? इसी सवाल को व्यवस्था के सामने रखते हुए डॉ .ब्रह्मजीत गौतम लिखते हैं-

"फलक से जमीं पर उतर कर तो देखो
ज़रा अपनी दुनिया के मंजर तो देखो
कहीं कोठियाँ हैं तनी आसमाँ तक
कहीं गिजबिजाते ये टप्पर तो देखो।"[43]

दहशतवाद तथा आतंकवाद की भयानकता:

आज संसार के सभी देश आंतकवाद की चपेट में आए हैं। भारतीय समाज भी आतंकवाद की काली छाया में जी रहा है और बार-बार दहशतवादी हमलों का शिकार बन गया है। आतंकवादी मानसिकता शैतानी हेाती है, उसका न धर्म होता है न ही संप्रदाय और न ही संस्कृति या सभ्यता। यह तो मानवता के शत्रु होते हैं। अमानवीय स्वार्थी वृत्ति के अंधे, बहरे एवं संवेदनाशून्य आतंकी किसी के भी सगे नहीं होते। आतंकवाद की भयानकता को अभिव्यक्त करते हुए कर्नल तिलकराज लिखते हैं-

"ग़जब का खेल शैतानों ने खेला
लहू धरती पे बरसाया हुआ है
कहाँ से आ गई दहशत घरों में
जिसे देखों, वह घबराया हुआ है।"[44]

सांप्रदायिक संकुचित मनोवृत्ति :

संसार में भारत का सांस्कृतिक एवं भौगोलिक स्थान विशिष्ठ है। विश्व के लगभग सारे धर्म, पंथ तथा मौसम भारतभूमि में पाए जाते हैं। हिंदू, जैन, बौद्ध, सिक्ख, इस्लाम, ईसाई आदि धर्मों के अनुयायी भारत के निवासी है। बावजूद इसके यह देश निधर्मी राष्ट्र है। फिर भी भारतीय समाज कई बार सांप्रदायिक दंगों की चपेट में आ चुका है, सांप्रदायिक आग में जल चुका है। सांप्रदायिक संर्कीणता हमारे देश के विकास के लिए मारक है, इसे हर भारतीय को समझना होगा। सांप्रदायिकता की ओर इशारा करते हुए सुरेंद्र चतुर्वेदी लिखते हैं-

"उसके बस्ते में जो रक्खी मैंने मजहब की कीताब
तो ये बोला अब्बा मेरी कापियाँ जल जाएंगी।"[45]

सांप्रदायिक सद्भाव की अभिव्यंजना:

आधुनिक गज़लकारों ने अपनी रचनाओं के माध्यम से सांप्रदायिक सद्भाव को भी अभिव्यक्त किया है। भारतीय राष्ट्रीय एकात्मता का मूल आधार ही सांप्रदायिक सद्भाव है। जब-जब भी हमारे देश की सम्यता पर गैर हिंदुस्थानी सत्ताओं का हमला हुआ है तब-तब सांप्रदायिक सौहार्द का भाव और दृढ़ हुआ है। सांप्रदायिक सद्भाव की इसी मनीषा को प्रस्तुत करते हुए चंद्रसेन विराट लिखते हैं-

"अंदाज इबादत का ऐसा हो तो कैसा हो,
मस्जिद में भजन गूँजे मंदिर से अजाँ निकले।"[46]

---

42) वही, पृष्ठ 104 –

43) वक्त के मंजर ,ब्रह्मजीत गौतम, नमन प्रकाशन, नई दिल्ली, ,2008पृष्ठ 33 –

44) आँचल आँचल खुशबु, कर्नल तिलकराज, हिंदी साहित्य निकेतन, बिजनौर, ,1998 पृष्ठ74 -

45) अंदाजे बयाँ और ,सुरेंद्र चतुर्वेदी, राजस्थान साहित्य अकादमी, उदयपुर, ,1995 पृष्ठ 13 -

इस जहाँ में हिंदुस्तान सबसे अच्छा इसलिए है क्योंकि यहाँ विविधता में एकता का भाव पनपता है। हजारों वर्षों की यह परंपरा है जिसे हर हिंदुस्तानी ने अपने में संजोकर रखी है। इसी भाव की कामना करते हुए निश्तर खानकाही लिखते हैं-

"हम मसीही, बौध्द, सिख, हिंदु, मुसलमाँ हो गए
कब वह दिन आएगा, जब हम आदमी हो जाएँगे।"[47]

किसी भी सभ्य समाज के निर्माण के पीछे संवदनशील कलाकार, रचनाकार एवं चिंतकों की दृष्टि होती है। रचनाकार वर्तमान समाज का हितैषी होते हैं, भूत की अच्छी जीवनदायी परंपराओं को भविष्य के साथ जोड़कर एक आदर्श मानव समाज का निर्माण करते हैं। रचनाकार की चिंता परिधि में सर्वकालिक आदमी होता है। इसी भावना को उजागर करते हुए दुष्यंत कुमार लिखते हैं-

"मुझमें रहते है करोडों लोग चुप कैसे रहूँ,
हर गज़ल अब सल्तनत के नाम एक बयान है।"[48]

रचनाकार आम इन्सान की पीड़ा, संघर्ष को व्यवस्था के सामने रखता है, उसे न्याय दिलाने की हर संभव कोशिश करता है, अपनी रचनाओं के माध्यम से सिर्फ हंगामा खड़ा नहीं करता है, अपितु उसकी कोशिश तो सर्वहारा के अभ्युदय के लिए होती है; यह उसके सृजनधर्म का मर्म होता है। इसी बात को क्रांतिकारी स्वरों में बयान करते हुए दुष्यंत कुमार लिखते हैं-

"हो गई है पीर पर्वत-सी पिघलनी चाहिए,
इस हिमालय से कोई गंगा निकलनी चाहिए।"
सिर्फ हंगामा खड़ा करना मेरा मकसद नहीं
मेरी कोशिश है कि ये सूरत बदलनी चाहिए।"[49]

निष्कर्षत : वर्तमान ग़ज़ल लेखकों ने अपनी रचनाओं के माध्यम से भारतीय समाज में व्याप्त विसंगतियों, विद्रुपताओं, आर्थिक विषमता, आतंकवाद, मूल्यहीनता, सांप्रदायिकता, सांप्रदायिक सौहार्द आदि की अभिव्यंजना बहुत ही प्रभावी ढंग से की है। लेखक की प्रतिबद्धता को भी गंभीरता से समझाया है। लेखक की अच्छी सोच, विचार का तत्कालीन सत्तापर गहरा परिणामत :होता है, राष्ट्रीय स्तर पर कई लोककल्याणकारी योजनओं को बनाते समय, नीति निर्धारण करनेवालों का मार्गदर्शन होता है। इसलिए लेखकों की कलम के केंद्र में लोगमंगल का भी होना अत्यंत आवश्यक है।

डॉ. (प्रो.) सदानंद भोसले
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिंदी विभाग, पुणे
विश्वविद्यालय पुणे

---

46) दुष्यंतोत्तर ग़जल ,मधु खराटे, विद्या प्रकाशन, कानपुर, ,2013पृष्ठ 95 –

47) गज़ल मैंने छेडी ,निश्तर खानकाही, हिंदी साहित्य निकेतन, बिजनौर, ,1947 पृष्ठ 75 –

48) साये में धूप ,दुष्यंत कुमार, पृष्ठ56 -

49) वही, पृष्ठ -29

6

मॉरीशस की हिंदी पत्रकारिता; स्वाधीनता आन्दोलन के विशेष सन्दर्भ में

डॉ. कृष्ण कुमार झा

विषय-प्रवेश

मॉरीशस में हिन्दी पत्रकारिता का उद्भव एवं विकास अप्रवासी भारतीयों की दारुण संघर्ष-गाथा से जुड़ा हुआ है। एक सौ छियासी वर्ष पूर्व जब हमारे पूर्वजों को इस देश में जबरन या उसे भाग्य की दुहाई देकर लाया गया था तो कौन जानता था कि यहाँ के पत्थरों से टकराकर या ठोकर खाकर वे एक दिन इस देश का इतिहास बदल देंगे। इस देश के इतिहास के निर्माण में अप्रवासी भारतीयों को एक लम्बी संघर्ष-यात्रा से गुजरना पड़ा। इस देश के इतिहास में मील का पत्थर बनने के लिए यह आवश्यक था कि वे अपने हिन्दू धर्म , संस्कृति ,दर्शन ,जीवन-पद्धति और उसके द्वारा अपनी अस्मिता को जीवित रखें और इसके लिए उनकी मातृभाषा हिन्दी उनके जीवन की संवाहक बनी। इन सभी अप्रवासी भारतीयों ने हिन्दी भाषा के द्वारा अपनी संस्कृति और अस्मिता की रक्षा का संकल्प लिया और देश में हिन्दी पत्र-पत्रिकाएँ निकालनी शुरू कीं। पत्रकारिता के द्वारा वे अपनी हिन्दी भाषा , अपनी संस्कृति तथा भारतीय समाज को एक सूत्र में जोड़े रखने में सफल हुए। अपने विचारों को आम जनता तक फैलाने एवं क्रान्ति की पृष्ठभूमि में सहयोगी की भूमिका निभाने में भी पत्र-पत्रिकाएँ ही उनकी महत्त्वपूर्ण आधार-शक्ति बन सकीं।

भारत की तरह मॉरीशस में भी हिन्दी पत्रकारिता का अभ्युदय और विकास राजनीतिक दासता से मुक्ति के साथ-साथ सामाजिक-सांस्कृतिक जागरण और आधुनिकता की चेतना को नई दिशा देने के लिए हुई थी। मॉरीशस के पत्रकारों ने अपने चरित्र और पुष्ट मनोबल से अंग्रेज़ों के कृत्य और नृशंसता का कड़ा प्रतिरोध किया था। उनकी साधना का प्रेरक था स्वत्व-बोध और लक्ष्य था पराधीनता के अभिशाप से राष्ट्रीय अस्मिता का उद्धार। पत्रकारों ने अपने निजी स्वार्थ को ताक पर रख कर अपनी अप्रतिम शक्ति और जीवन-चर्या को देश के मुक्ति संग्राम में नियोजित कर दिया था। पत्रकारों ने लोकनायक की गुरुतर भूमिका को समझते हुए पत्रकारिता की विरासत को सुदृढ़ एवं समृद्ध किया।

अंग्रेज़ी साम्राज्यवाद के दौर में भारत से लाखों लोगों को श्रमिक के रूप में अंग्रेज़ी उपनिवेशों में ले जाया गया जहाँ श्रमिक जीविकोपार्जन की दृष्टि से तो कुछ असहाय लाचारी की स्थिति में वहीं बस गए। 'मारिशस' ,'फीजी ,''त्रिनिदाद ,''सूरीनाम' ,'ब्रिटिश गायना' ,'दक्षिण अफ्रीका' आदि इसके उदाहरण हैं , जहाँ भारतवंशी भारी संख्या में बसते हैं। इन देशों में बसने वाले लोग अधिकांशतः पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार प्रांत के लोग थे ,जिनकी विचार-विनिमय की भाषा भोजपुरी थी। परिणाम स्वरूप वहाँ हिन्दी पत्रकारिता को अवसर मिला। "विदेशों में प्रकाशित होने वाला सबसे पहला हिन्दी पत्र था 'हिंदोस्थान'। यह पूर्वी उतर प्रदेश के कालाकांकर राज्य के राजा श्री रामपाल सिंह के प्रयत्नों से 1883से 1885के बीच एक त्रैमासिक पत्र के रूप में लंदन से प्रकाशित हुआ था। आरंभ में यह पत्र हिन्दी ,उर्दू और अंग्रेजी त्रिभाषायी आधार पर निकाला गया था। 1885 से इसका प्रकाशन साप्ताहिक पत्र के रूप में होने लगा और 1887से यह दैनिक रूप में परिणत हो गया।1"

लंदन के पश्चात् अफ्रीका में प्रवासी भारतीयों में जागरण की दृष्टि से हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन शुरू होता है। सन् 1902से 1905तक वहाँ 'हिन्दी' नामक समाचार पत्र शुरू हुआ था जो हिन्दू जातीय संगठन और भारतीयता के विकास में सहायक सिद्ध हुआ। 1904में महात्मा गांधी के सहयोग से डरबन में मदनजीत महोदय ने 'इंडियन ओपिनियन' नामक समाचार पत्र का संपादन किया जिसने नेटाल इंडियन

कांग्रेस और ब्रिटिश उपनिवेश विरोधी आन्दोलन में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। अफ्रीका की ही तरह मॉरीशस में भी हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं के उद्भव का इतिहास गांधीवाद से प्रेरित था। मॉरीशस का प्रथम अहिंदी भाषी समाचार पत्र 1773में 'पंचित आफिस' नाम से फ्रेंच भाषा में प्रकाशित हुआ था। "सन् 1773 से 1954की कालावधि तक मॉरीशस में प्रकाशित पत्र-पत्रिकाओं की संख्या लगभग 606है। इसमें भारतीय भाषाओं में प्रकाशित पत्र-पत्रिकाओं की संख्या लगभग 17हैं। तमिल की तीन ,गुजराती की दो और उर्दू की एक। [2]"

पत्रकारिता का स्वरूपगत संदर्भ

पत्रकारिता का जन्म पत्र-प्रकाशन से हुआ। दैनिक , साप्ताहिक ,पाक्षिक ,मासिक ,त्रैमासिक, अर्धवार्षिक और वार्षिक पत्र उसकी कर्मभूमि है। हैरल्ड आर . बेंजामिन ने "पत्रकारिता को शिक्षा का सबसे महत्वपूर्ण तथा शक्तिशाली साधन तंत्र माना है। वे कहते हैं सच्ची शिक्षा मनुष्य को स्पष्ट दृष्टिकोण से मानव के अधिकाधिक हित की ओर प्रेरित करती है। अतः जन-सेवा के प्रति जागरूक पत्रकारिता को शिक्षा का सबसे अधिक महत्वपूर्ण तथा शक्तिशाली साधनों की कोटि में गिना जाना चाहिए।"[3]

"पत्रकारिता एक समसामयिक इतिहास है जो शीघ्रतापूर्वक लिखा जाता है। अपने समय का लिखा गया इतिहास ही पत्रकारिता का महत्तम सन्दर्भ है। दैनिक क्रम में घटने वाली घटनाओं का चाहे वह घटना राजनीतिक हो ,सांस्कृतिक और चाहे आर्थिक हो , रहस्योद्घाटन ही पत्रकारिता का जीवन है। पत्रकारिता का मूल ध्येय अन्याय का उद्घाटन करना ,दोष-परिहार करना ,सलाह देना ,असहायों की सहायता करना और मित्रविहीन लोगों को मित्रवत् मार्ग दिखाना।"[4]

एक्सप्लोरिंग जर्नलिज्म में ले. वुल्ज्ले कैम्पवैल ने पत्रकारिता को इस प्रकार परिभाषित किया है- "पत्रकारिता आधुनिक प्रकाशन पद्धति के द्वारा जनता के समाचार ,जनता की धारणा तथा जनता के मनोविनोद का सुनियोजित तथा विश्वसनीय प्रसारण है।"[5]

'पत्रकारिता 'शब्द पत्र से बना है और पत्र तथा समाचार का अनन्य सम्बन्ध है। समाचार केवल राजनीतिक घटनाओं के ही नहीं होते अपितु साहित्यिक गतिविधियों ,धार्मिक मान्यताएँ , वैज्ञानिक आविष्कार ,व्यापारिक उतार-चढ़ाव , सामाजिक क्रांति तथा प्रकृति के गूढ़ रहस्यों की गुत्थियों को सुलझाने वाले विचार और सुझाव भी उसकी परिधि से परे नहीं है। जितना व्यापक 'समाचार 'शब्द है उतना ही विस्तृत क्षेत्र पत्रकारिता का है।

हिन्दू-संस्कृति में नारद का व्यक्तित्व आरंभिक पत्रकारिता के तत्वों से पोषित मिलता है। पौराणिक मान्यताओं के अनुसार" उन्हें स्वर्ग से मृत्यु तक पत्रकारिता का कर्म करनेवाला कहा गया है।"[6] नारदजी के पश्चात सन्देश वाहक के रूप में महाभारत के संजय का उल्लेख मिलता है। मौर्य शासन काल में चाणक्य को अपनी कूटनीति के कारण संचार व्यवस्था का संस्थापक माना जाता है। भारतीय प्राचीन व्यवस्था में सन्यासी ,व्यापारी ,नर्तक ,गायक , ज्योतिष ,भाट ,सूत ,चारण आदि का संवाद सूत्र के रूप में उल्लेख मिलता है। सन्देशवाहक एवं दूत के रूप में कौआ ,तोता ,कबूतर ,भँवरा ,पवनदूत ,मेघदूत का भी वर्णन हुआ है।

भारत में सम्राट अशोक के शिलालेख भी तत्कालीन समाचार की श्रृंखला की एक कड़ी का काम करते थे। मुग़ल काल में वाक्यानवीस का कार्य उसी श्रंखला में दूसरी कड़ी सिद्ध होती है। "इन वाक्यानवीस की नियुक्ति मुगल बादशाहों तथा नवाबों ने समाचारों के महत्व को ध्यान में रखकर की थी। अवध के नवाब वाजिद आली शाह ने 600 वाक्यानवीस नियुक्त कर रखे थे। अक्सर इनके भेजे समाचारों के आधार पर बादशाह और नवाब महत्वपूर्ण निर्णय लिया करते थे और उन्हें कार्यान्वित करने के लिए ठोस कदम उठाते थे।"[7] वाक्यानवीस हस्तलिखित समाचार पत्र लिखकर औरंगजेब तथा प्रदेशों के गवर्नरों को भेजते थे। अंतिम मुग़ल सम्राट बहादुर शाह ने' सिराजउल अख़बार 'निकाला था।

मुगलों की अंतिम डायरी' उर्दू अख़बार' थी। इसमें भी भावी पत्रकारिता का स्वरुप विद्यमान था। भारत में प्रथम समाचार पत्र' बंगाल गजेट 'जेम्स आगस्ट हिकी नामक अँगरेज़ ने 29 जनवरी ,सन 1780 ई .को कलकत्ते से प्रकाशित किया। भारत में प्रेस के आविर्भाव तथा देवनागरी टाइप के प्रचलन से हिंदी पत्रकारिता का उदय एवं विकास हुआ।

मॉरीशस में हिंदी पत्र-पत्रिकाओं के उद्भव एवं विकास का इतिहास

मॉरीशस में हिन्दी पत्रकारिता के उद्भव एवं विकास की पृष्ठभूमि में मूलत: गांधीवादी प्रभाव एवं दृष्टिकोण झलकता है। सन् 1907में मॉरीशस के भारतवंशियों के इतिहास ने एक नई करवट ली। मगणलाल मणिलाल डाक्टर, गाँधी के आग्रह पर मॉरीशस में अप्रवासी भारतीयों की समस्या के समाधान एवं उसके उद्धार के लिए आए थे। गाँधीजी जिस एकता और संगठन की शक्ति को स्वतंत्रता के लिए महत्त्पूर्ण मानते थे; उन्हीं की धारणा को मणिलाल डॉक्टर मॉरीशस में आर्य समाज की स्थापना करके फलीभूत करते हैं। उन्होंने भारतवंशियों में वैचारिक क्रान्ति का जोरदार अभियान शुरू किया। उनके इस अभियान का प्रमुख माध्यम 15मार्च , 1909में प्रकाशित 'हिन्दुस्तानी' पत्रिका बनी। "मारीशस में हिन्दी का यह प्रथम समाचार पत्र था जो 15मार्च 1909 ,में गुजराती और अंग्रेज़ी भाषा में प्रकाशित हुआ और 1914में इसने दैनिक रूप ले लिया।"[8] राष्ट्रीय विस्तार के उद्देश्य से यह समाचार पत्र कुछ ही महीनों में गुजराती की जगह हिन्दी में निकलने लगा। "सन् 1910ई .से 'हिन्दुस्तानी' का प्रकाशन अंग्रेज़ी और हिन्दी भाषा में होने लगा था।"[9] प्रस्तुत समाचार पत्र के उद्देश्य के रूप में अंग्रेज़ी में मोटो छपता था, जिसका तात्पर्य था- "व्यक्ति की स्वाधीनता ,मानव मैत्री ,बन्धुत्व और सभी जातियों में समानता।"[10] मणिलाल डाक्टर द्वारा 'हिन्दुस्तानी' की शुरूआत से ही मॉरीशस में हिन्दी पत्रकारिता की भित्ति का निर्माण हुआ। सन् 1911तक इस पत्र को मणिलाल डाक्टर ने अपनी युयुत्सु मुद्रा, प्रखर विवेक और प्रातिभ दीप्ति से अपने उत्कर्ष पर पहुँचाया।

मॉरीशस से प्रस्थान के समय डाक्टर मणिलाल ने आर्य समाज को प्रेस दान में दे दिया । उन्हीं की प्रेरणा से आर्य समाज ने सन् 1911में अपना प्रथम प्रकाशन 'आर्य पत्रिका' नाम से मासिक पत्र निकाला जो हिन्दी और अंग्रेज़ी में निकलता था परन्तु बाद में पाक्षिक बन गया। "जनवरी 1912 ,से यह साप्ताहिक पत्र के रूप में निकलने लगा। इसके प्रथम सम्पादक श्री तोतालाल)खेमलाल लाला (थे।"[11] उनके अस्वस्थ हो जाने के बाद भारत से आए स्वामी स्वतंत्रतानन्द जी ने दो वर्षों तक इसका सम्पादन कार्य सम्भाला और बाद में धनाभाव के कारण इसे बन्द कर दिया गया।

मार्च 1912 ,में श्री रामलाल तिवारी ने 'ओरिएण्टल गजट' नाम से एक साप्ताहिक पत्र का प्रकाशन शुरू किया। यह दैनिक पत्र हिन्दी और अंग्रेज़ी में निकलता था जो बाद में साप्ताहिक हो गया। यह पत्र सनातन धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए कटिबद्ध था।

'हिन्दुस्तानी' एवं 'आर्य पत्रिका' से शुरू हुए मॉरीशस में जागरूकता अभियान को और अधिक सुदृढ़ बनाने के लिए समय-समय पर अनेक व्यक्तियों द्वारा अनेक हिन्दी के साप्ताहिक ,पाक्षिक और मासिक पत्र-पत्रिकाएँ निकालनी शुरू की। आर्य समाजी वैरिस्टर रामखेलावन बुधन और कौलेसर के संयुक्त प्रयास से मॉरीशस इण्डियन टाइम्स ,(1924-1920) सन् 1913में बंद हुई 'आर्य पत्रिका' का पं .काशीनाथ किश्टो द्वारा पुनर्जन्म 'मॉरीशस आर्य पत्रिका'-1924) (1940के रूप में हुआ। "सन् 1926में आर्य समाज के संचालकों में मतभेद हो गया और एक ही जगह दो सभाएँ हो गईं। दूसरी सभा ने 3मई 1929 ,से 'आर्यवीर' (1945—1929)साप्ताहिक पत्र को जन्म दिया। यह भी अंग्रेज़ी और हिन्दी में प्रकाशित होती थी।"[12]

सनातन धर्मियों के प्रमुख पत्र 'मॉरीशस मित्र ' (1932—1924)के संस्थापक राजकुमार गजाधर थे। यह पत्र हिन्दी ,अंग्रेज़ी और फ्रेंच में उच्चकोटि के विद्वान पं .राम अवध शर्मा के संपादन में प्रकाशित होता था। बाद में मुक्ताराम चटर्जी ने इसका संपादन किया। राजनीतिक घटनाक्रम एवं सामाजिक सांस्कृतिक जागरण की दृष्टि से इस पत्र का उल्लेखनीय स्थान है। 'मॉरीशस मित्र' के प्रकाशन बंद होने के ठीक पश्चात् नरसिंह दास के संपादन में 15 दिसम्बर 1933 ,से सनातन धर्मियों द्वारा 'सनातन धर्मांक पत्रिका (1942—1933) 'का प्रकाशन प्रारम्भ किया गया। अंग्रेज़ी ,फ्रेंच और हिन्दी में यह साप्ताहिक पत्रिका निकलती थी। इसमें ही पं .तपेश्वरनाथ चतुर्वेदी द्वारा लिखित मॉरीशस की पहली हिन्दी कहानी 'इन्दो' छपी थी। इस पत्रिका ने मॉरीशस में कहानी-लेखन को प्रेरित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।

इस प्रकार **जागरण काल (1935—1909)** की सभी पत्र-पत्रिकाओं का मुख्य उद्देश्य अप्रवासी भारतीयों को अंग्रेज़ों के अत्याचारों के विरुद्ध जागरण उत्पन्न करना तथा दूसरी ओर धर्म के प्रचार-प्रसार द्वारा लोगों में संगठन और जागरण की भावना का भी संचार करना था। इस दायित्व का निर्वाह पत्र-पत्रिकाओं ने भली भाँति किया लेकिन कालांतर में आर्यसमाजी एवं सनातनी दोनों संप्रदाय वैचारिक मतभेद में उलझ गए और दोनों वर्गों के पत्रों ने 'प्रेरित पत्र' नामक कालम में धार्मिक बहस को जन्म दिया। धार्मिक बहस एवं शास्त्रार्थ की इस प्रक्रिया से उनका धर्म-कर्म के मामले में आत्म-संशोधन हुआ और दोनों वर्ग अपने खेमे के प्रति लोगों को आकर्षित करने लगे और जी जान से पत्रिका के प्रकाशन में जुट गए। हिन्दी कविताएँ और 'इन्दो 'नामक मॉरीशस की प्रथम हिन्दी कहानी -साहित्य का प्रकाशन भी इसी काल की पत्रकारिता की प्रमुख देन है। "हिन्दी लेखन के उषाकाल में प्रकाशित पत्रों ने हिन्दी लेखन को प्रोत्साहित किया। इन्होंने पाठक उत्पन्न किए। इनमें शब्दावली स्थिर हुई तथा कुछ शब्दों की वर्तनी परिनिष्ठित हुई और भाषा का स्वरूप निखरा। ये पत्र नींव के पत्थर थे।"[13] इस प्रकार इस काल की पत्रिकाएँ राजनीतिक एवं साहित्यिक जागरण की दृष्टि से महत्त्पूर्ण हैं।

मॉरीशस के इतिहास में वर्ष 1935अनेक महत्त्पूर्ण घटनाओं के कारण स्वर्णाक्षरों में अंकित है। इसी वर्ष नवम्बर में मॉरीशस में अप्रवासी भारतीयों के आगमन शताब्दी समारोह को धूमधाम से मनाया गया। इसी अवसर पर पं .लक्ष्मीनारायण चतुर्वेदी द्वारा लिखित मॉरीशस के इतिहास को भोजपुरी हिन्दी में पद्धबद्ध कर **'शताब्दी सरोज'** नाम से प्रकाशित किया गया। इसी वर्ष हिन्दी प्रचारिणी सभा की स्थापना हुई और वहीं से भगत बन्धुओं के प्रयास से **'दुर्गा'** नामक हस्तलिखित पत्रिका का जन्म हुआ। डॉ .शिवसागर रामगुलाम इंग्लैण्ड से डाक्टरी की डिग्री लेकर 1935में स्वदेश लौटे और अप्रवासी भारतीयों के हित में संघर्षरत रहकर देश की स्वतंत्रता का मार्ग प्रशस्त करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। **संघर्ष काल (1968—1935)** की हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं द्वारा हिन्दी भाषा एक बड़े आन्दोलन की भाषा बनी और अप्रवासियों में अभारतीय संस्कृति के प्रति संघर्ष एवं टकराहट को जन्म दिया जिसका दूरगामी प्रभाव मॉरीशस की स्वतंत्रता प्राप्ति में सहायक सिद्ध हुआ। मॉरीशस की हिन्दी पत्रकारिता के इतिहास में इस दौर की सभी पत्र-पत्रिकाएँ देश के स्वतंत्रता आंदोलन के लिए संघर्षरत थीं। गुणवत्ता एवं प्रभावोत्पादकता की दृष्टि से तथा पूरे देश में इस काल की पत्रिकाओं ने अप्रवासी भारतीयों में राजनीतिक चेतना के विकास में मील के पत्थर का रूप ग्रहण किया।

पं .उमाशंकर गिरिजानंद के संपादन में त्रैमासिक साहित्यिक पत्रिका **वसंत** (1935)का प्रकाशन शुरु हुआ हालांकि इसका एक ही अंक निकल पाया लेकिन साहित्यिक सृजन की प्रारंभिक पृष्ठभूमि के निर्माण में यह सहायक बनी। **दुर्गा** (1938—1935)हिन्दी प्रचारिणी सभा के कर्मठ हिन्दी सेवियों के कर कमलों से हस्तलिखित निकलती थी। इस साहित्यिक मासिक पत्रिका में कविताएँ ,कहानियाँ एवं महत्त्पूर्ण वैचारिक

लेख छपे होते थे। साहित्यिक अभिरुचियों को जागृत करने की दृष्टि से एवं जातीय संगठन की भावना के प्रसार में इस पत्रिका का ऐतिहासिक महत्त्व है। सूर्यप्रसाद मंगर भगत इसके संपादक थे।

'मॉरीशस आर्य पत्रिका' के बन्द होने के बाद सन् 1939में आर्य परोपकारिणी सभा ने 'जागृति 'नाम से नूतन साप्ताहिक पत्र निकालना शुरू किया। यह पत्र अंग्रेजी ,फ्रेंच और हिन्दी में निकलता था। लोगों में सामाजिक धार्मिक-जागरण एवं राजनीतिक चेतना जागृत करने की दृष्टि से इस पत्र का विशेष महत्त्व है। इसके संपादक पंडित आत्माराम और उसके पश्चात् वेणीमाधव सतीराम हुए। '**आर्यवीर'** और **'जागृति'** दोनों ही आर्य समाज के पत्र थे। बाद में दोनों को एक ही नाम देकर 1945से '**आर्यवीर जागृति'** के नाम से इसे प्रकाशित किया गया। यह एक दैनिक पत्र था जिसके संपादक प्रो.वासुदेव विष्णुदयाल थे। इस पत्र ने पर्याप्त ख्याति प्राप्त की किन्तु कुछ वर्षों के उपरान्त इसे बन्द होना पड़ा।

मासिक चिट्ठी (1950—1942)हिन्दी भाषा में निकलने वाला छोटे आकार का एक महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक पत्र था जो 1945तक साप्ताहिक रूप में निकलता था। उसके बाद मासिक पत्रिका के रूप में प्रकाशित हुआ। यह प्रमुख रूप से सूचनात्मक अधिक था। पब्लिक रिलेशंस आफिस से इसका प्रकाशन होता था। इसके संपादक पं .सोमदत शर्मा थे। **सैनिक** (47—1946)लगभग ग्यारह महीनों तक हिन्दू प्रेस से वक्तवर सिंह के संपादन में साप्ताहिक पत्र के रूप में प्रकाशित हुआ था। इसमें मुख्य रूप से सामाजिक-सांस्कृतिक विषयों पर चर्चा होती थी। हिन्दू प्रेस से ही बी .वक्तवर सिंह के संपादन में पाक्षिक पत्रिका के रूप में **मजदूर** (48-1947) का भी प्रकाशन हुआ था।

मॉरीशस की पत्रकारिता के इतिहास में **'जनता'** एक उच्चस्तरीय साप्ताहिक पत्र था। कर्मठ समाजसेवी और अप्रवासी भारतीयों के नेता डा .सर शिवसागर रामगुलाम के संरक्षण में प्रतिभाशाली ,भाषा और साहित्य के विद्वान जयनारायण राय ने 4मई 1948 , से जनता के संपादन से एक मनीषी पत्रकार के रूप में स्वयं को स्थापित किया। उनके कुशल संपादन में 'जनता' मॉरीशस का चर्चित एवं महत्वपूर्ण पत्र बन गया। बच्चू प्रसाद सिंह के शब्दों में "मॉरीशस में एक साप्ताहिक हिन्दी पत्र बड़े सजधज के साथ आज निकल रहा है। इस समाचार पत्र के संचालक मंडल के अध्यक्ष स्वयं सर शिवसागर रामगुलाम जी हैं। इस पत्र के साथ देश के अनेक विशिष्ट लोगों के नाम जुड़ रहे हैं। इनमें से जयनारायण राय के साथ वहाँ के प्रसिद्ध मजदूर नेता श्री बद्री भी है। इस साप्ताहिक हिन्दी सामाचार पत्र ने देश के पूरे जन जीवन में अपना एक ऐसा स्थान बना लिया है जिसके प्रति सभी के मन में सद्भावना है। यह समाचार पत्र बड़ी सफलता पूर्वक अपने उद्देश्यों की सिद्धि कर रहा है।"[14]

हिन्दी पत्रकारिता को प्रखर ,ओजस्वी एवं स्वतंत्रता आंदोलन का एक आदर्श स्वरूप स्थापित कर उसे पल्लवित-पुष्पित करने में 'जमाना' की भूमिका उल्लेखनीय है। प्रो .वासुदेव विष्णुदयाल के प्रकाशकत्व और श्री मुनेश्वर कुराराम के संपादकत्व में जून 1948 ,में 'जमाना' पत्र का निकलना शुरू हुआ। The case of satyarth prakash के रचयिता श्री शिवचन्द्र आर्य दिल्ली के प्रसिद्ध साप्ताहिक 'वीर अर्जुन' के अंक में लिखते हैं "यह प्रसन्नता की बात है कि मॉरीशस के श्री प्रोफेसर वासुदेव विष्णुदयाल एम.ए .जैसे योग्य त्यागी और तपस्वी नेता हैं और उन्हें सुखदेव बालगोविन्द और श्री सुखदेव विष्णुदयाल जैसे लोगों का साहचर्य प्राप्त है।"[15]

मॉरीशस की स्वाधीनता की हवा को तीव्र गति देने के लिए और भी अनेक पत्र-पत्रिकाओं की भूमिका देखी जा सकती है। "सन् 1950में स्वतंत्रानन्द जी आर्य समाज के प्रचार प्रसार के लिए पुन: मॉरीशस पधारे। आर्य प्रतिनिधि सभा और आर्य परोपकारिणी सभा का विलय करवा कर एक नवीन 'आर्य़ सभा' की स्थापना करके दोनों की सम्पत्ति ,कोष ,प्रेस ,उपदेशक आदि को भी एक साथ कर दिया। आर्य पत्रिका और आर्यवीर दोनों पत्रों को मिलाकर इसको एक नया

नाम 'आर्योदय' दिया। [16] "यह पत्रिका आर्य सभा द्वारा अभी तक प्रकाशित हो रही है। इसका प्रथम अंक 4 नवम्बर 1950 ,को पं .आत्माराम विश्वनाथ के संपादन में निकला था। पहले यह मासिक पत्र था। फिर मोहनलाल मोहित एवं मूलशंकर रामधनी ने पाक्षिक रूप से हिन्दी-अंग्रेज़ी में इस पत्र का संपादन किया। हिन्दी ,अंग्रेज़ी और फ्रेंच तीनों भाषाओं में आज भी यह वैदिक सिद्धांतों के प्रचार-प्रसार में सलंग्न है। इसके वर्तमान प्रधान संपादक सत्यदेव प्रीतम बी.ए. हैं।

रामसेवक तिवारी के संपादन में 'वर्तमान ' (54-1950) नामक पत्र निकला ,यह धार्मिक एवं सांस्कृतिक साप्ताहिक पत्रिका थी। पं .दौलतराम शर्मा के संपादन में 'अनुराग (61-1960) 'हिन्दी की प्रमुख त्रैमासिक साहित्यिक पत्रिका थी। कुछ अंकों के पश्चात् इसका प्रकाशन बंद हो गया और पुन: हिन्दी परिषद और सोमदत्त बखोरी के संपादन में 1969में इसका प्रकाशन हुआ। अभिमन्यु अनत जैसे मूर्धन्य साहित्यकारों का अभ्युदय इसी पत्रिका के द्वारा हुआ था। सूर्यप्रसाद मंगर भगत की हस्तलिखित पत्रिका 'दुर्गा 'जो 1960में मुद्रित होकर 'नवजीवन 'नाम से नये कलेवर में प्रकाशित हुई। यह पाक्षिक पत्रिका हिन्दी प्रचारिणी सभा द्वारा निकाली जाती थी। इसमें उच्चकोटि की साहित्यिक रचनाएँ छपती थीं। हिन्दी भाषा के प्रचार-प्रसार में इसका उल्लेखनीय योगदान रहा है। "सन् 1961में 'लन्दन में स्वयंबर' जैसे व्यंग्य चित्र सहित 'ब्लाक रामायण' के नाम से उद्धृत उनकी पैरोडी कविता इसी प्रत्रिका में प्रकाशित हुई थी। [17] "

मजदूरों को जागृत करने के उद्देश्य से हरिप्रसाद रामनारायण ,जगदम्बी और रामसुंदर बाबूलाल की त्रिमूर्ति ने 1956में 'मजदूर 'नाम से एक पत्र निकाला। श्री द्विजेन्द्र नाथ नेपाल के संरक्षण में एवं पं . सुंदर शर्मा के संपादन में राजनीतिक एवं समाजवादी पत्र 'समाजवाद' 1960)- ,(61पं .सुन्दर शर्मा तथा उसके पश्चात्त् दीपचंद बिहारी के संपादन में राजनीतिक गतिविधियों को प्रमुखता देने के उद्देश्य से 'कांग्रेस(67-1964) ', प्रो.रामप्रकाश के संरक्षण में प्रशिक्षण महाविद्यालय के प्रशिक्षार्थियों द्वारा साहित्यिक पत्रिका 'प्रकाश' ,(1964) सन् 1965में मुनीश्वरलाल चिंतामणि ,पं .धर्मवीर घूरा ,पं . वालमुकुन्द द्विवेदी तथा रविशंकर कौलेसर आदि के सहयोग से पाक्षिक बाल पत्रिका 'बालसखा 'का प्रकाशन शुरु हुआ जो अब तक प्रकाशित हो रही है। इसमें आज भी इन्द्रदेव भोला इन्द्रनाथ के संपादन में कविताएँ ,कहानियाँ एवं शिक्षाप्रद लेख प्रकाशित होते हैं। समर्पित एवं प्रतिष्ठित माँरिशसीय लेखकों जैसे रामदेव धुरंधर की कहानियाँ भी इसमें प्रकाशित होती रही हैं।

स्वतंत्रता के पश्चात हिंदी की साहित्यिक पत्रिका भी छपने लगी जिसमे 'अनुराग (1977-1969) ' 'हमारा देश' ,(1971) 'आभा) '1972-76' ,(निर्माण ')1975' ,(अनुराग) '1969-77' ,(दर्पण) '1972-75 ' ,(स्वदेश) '1986-89 (आदि प्रमुख थीं। इन पत्रिकाओं में हिंदी की विविध विधाएँ जैसे कहानी , कविता, एकांकी, आदि अनेक रचनाएँ प्रकाशित होने लगीं। इनसे एक तो मॉरीशस में हिंदी के नए–नए हस्ताक्षर सामने आए और हिंदी साहित्य के सृजन को प्रोत्साहन मिला। स1977 में अनुराग का प्रकाशन बंद हो गया और महात्मा गांधी संस्थान की पत्रिका 'वसन्त' का प्रकाशन 12 मार्च1978 , में अटल बिहारी बाजपेयी की उपस्थिति में हुआ था। इसके पहले संपादक कथाकार अभिमन्यु अनत थे।

'वसंत' आज भी अपने अस्तित्व को मजबूत बनाये हुए है और महात्मा गांधी संस्थान द्वारा यह प्रकाशित होती है। 'स्वदेश 'मॉरीशस का एकमात्र स्वतंत्र हिंदी साप्ताहिक पत्र था जिसमें समाचारों के अतिरिक्त आपकी चिठ्ठी ,सच्ची बातें ,महिला जगत ,बच्चों का कोना ,आपका भविष्य ,फ़िल्मी हलचल आदि स्तम्भ बड़े आकर्षक तथा रोचक थे। लेकिन आर्थिक अभाव के कारण यह अधिक दिनों तक नहीं टिक सका। एक लम्बे अंतराल के बाद सन 2003में सरिता बुद्धू के संरक्षण में साप्ताहिक पत्रिका' जनवाणी' का प्रकाशन हुआ लेकिन यह भी आर्थिक अभाव के कारण कुछ वर्षों तक निकलने के पश्चात् बंद हो गया। वर्तमान में

मॉरीशस में मासिक ,त्रैमासिक साहित्यिक पत्रिकाओं के रूप में 'वसंत', रिमझिम' ,'इन्द्रधनुष' ,'आक्रोश ,' 'आर्योदय' ,'पंकज' ,'बालसखा 'तथा 'सुमन 'प्रकाशित हो रही है लेकिन हिंदी का एक भी समाचार पत्र अब यहाँ प्रकाशित नहीं होता।

मॉरीशस के स्वाधीनता-आन्दोलन में हिंदी पत्रकारिता की भूमिका

सन् 1909 में प्रकाशित हिन्दुस्तानी समाचार पत्र के पहले अंक में ही मणिलाल डाक्टर यह टिप्पणी करते हुए कहते हैं "केवल अपने निजी लाभ के लिए कोई मनुष्य या कोई जाति किसी दूसरे मनुष्य या दूसरी जाति को नैतिक दृष्टि से न तो दास बना सकती है और न अधिकार में रख सकती है और न ही शोषण कर सकती है। संसार के अन्य स्वाधीन देशों के मनुष्य की भाँति यहाँ के भारतीय मूल के लोगों की भी गणना मनुष्य में ही हो ,इसीलिए स्वत्व और जितनी स्वतंत्रता एक स्वाधीन राष्ट्र के व्यक्ति को प्राप्त है , उतनी स्वतंत्रता मॉरीशस के अप्रवासी भारतीयों को भी प्राप्त हो।''[18].

मणिलाल डॉक्टर जी पत्रकारिता के उतरदायित्व का भली-भांति निर्वाह करते थे। कुछ लोगों को लगता था कि उनकी यह पत्रकारिता देश में धार्मिक असहिष्णुता और जातीय पक्षपात का समर्थक है। वह स्पष्ट रूप से अपने पत्रों में इसका खंडन करते हुए उद्घोष करते हैं कि हिन्दू ,मुसलमान ,पारसी ,ईसाई सभी आपस में मिलजुकर एकता का पुरजोर प्रदर्शन करें ताकि हमारी स्वाधीनता ,समानता और विकास संभव हो।

"हिन्दुस्तानी ने यहाँ के जमींदारों में हाहाकार मचा दिया था। मणिलाल डाक्टर के लेख अत्यन्त तेजस्वी और प्रभावशाली हुआ करते थे। उनके पास पक्षपात नहीं था। चाहे धर्म हो ,चाहे राजनीति हो , यूरोपियन हो अथवा भारतीय हो ,उनका चाबुक सब पर बराबर चलता था। इसमें कोई संदेह नहीं कि देशाभिमान ,जातीय उन्नति, भारतीय प्रजा का कर्त्तव्य ,उनकी वर्तमान दशा ,उनकी उन्नति के उपाय , धर्म तथा राज आदि विषयों पर उनके लेख यहाँ के भारतीय लोगों के लिए सदैव मार्गदर्शक हुआ करते थे। भारतीय कुली प्रजा में जागृति उत्पन्न करके उनको अपने स्वप्नों को पहचान कराने हेतु उन्होंने समाचार पत्र प्रकाशित करना शुरू किया और उसमें वे सफल हुए।"[19]

इससे यह स्पष्ट होता है कि हिन्दुस्तानी समाचार पत्र निकालने का मुख्य उद्देश्य एक बहुत बड़ी ताकत के अत्याचार के विरुद्ध संघर्ष की शुरूआत करनी थी। 23सितम्बर 1911 ,को मणिलाल डाक्टर के मॉरीशस से प्रस्थान के पश्चात् इसके प्रकाशन का भार आर्य समाज के ऊपर आया। मणिलाल डॉक्टर के बाद 'हिन्दुस्तानी' के संपादक बने श्री राम सामी)नरसिंहदास (को एक अदालती फैसले के कारण बहुत बड़ा जुर्माना चुकाना पड़ा और श्री राम सामी ने अपनी जमीन के एक बहुत बड़े टुकड़े को बेचकर वह रकम अदा की थी। नरसिंहदास के बाद पंडितराम अवध शर्मा ,पं .आत्माराम विश्वनाथ जैसे कर्मठ सेवी एवं विद्वानों की प्रखर विद्वता से मॉरीशस में हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं को लाभ मिलता रहा। हिन्दुस्तानी पहले साप्ताहिक रूप में निकलता था और अपने अंतिम दिनों में यह पत्र दैनिक रूप में प्रकाशित हुआ। "मारिशस की प्रथम प्रकाशित हिन्दी रचना 'होली' पद्य में तथा 'सत्य होली 'गद्य में 2मार्च 1913 ,ई.के हिन्दुस्तानी पत्र में प्रकाशित हुई थी ।"[20]

दिनांक 1 जून ,1911 को' आर्य पत्रिका 'में प्रकाशित प्रथम हिंदी लेख में पत्रिका के उद्देश्य का स्पष्टीकरण होता है। "इस टापू में अपने हिन्दू भाई अथवा उनके बाप दादा बहुत करके गुलामगिरी की दशा में दाखिल हुए थे। .....वैदिक धर्म और अच्छी विद्या को बराबर फैलाने के लिए प्रेमी भाइयों की मदद से यह आर्य पत्रिका का आरम्भ होता है ,सज्जन इसको अपनी मदद और ताकत से आगे बढायेगा।"[21]

'आर्य पत्रिका 'के बंद हो जाने पर काशीनाथ किष्टो के संपादन में 'मॉरीशस आर्य पत्रिका 'नाम से इसे पुनर्जीवन प्राप्त होता है। पत्रिका के उद्देश्य के सम्बन्ध

में किष्टो लिखते हैं "मॉरीशस आर्य पत्रिका का उद्देश्य स्वदेश के लिए प्रत्येक भारतवासी की ममता उत्पन्न करना होगा। यह पत्रिका अपनी जाती के कुसंस्कारों से उत्पन्न बुराइयों को दूर करेगी। जाति का सुधार करने के लिए किसी भी विषय को अछूता न छोड़ेगी।" [22]

'जागृति 'में छपे शीर्षक जैसे' हिंदी समाचार पत्र और हिन्दू ,'हिंदी भाषा उद्धारक दयानंद सरस्वती ,' 'सरकार और हिंदी भाषा' ,'जागो होश में आओ 'आदि द्वारा मातृभाषा हिंदी का पुरजोर समर्थन किया जाता था और यह भी कहा जाता था कि इसके प्रयोग द्वारा ही जातीय अस्मिता एवं संगठन की भावना सुदृढ़ होगी। 'आर्यवीर-जागृति 'में लेखक नारायण 'संगठन की पुकार 'शीर्षक में लिखते हैं" स्मरण रहे यदि हम अपने-अपने संगठन को इससे ज्यादा मजबूत बनाना चाहते हैं तो बिना रोक-टोक के सभी को अपने-अपने मस्तिष्क में हिंदी भाषा के लिए स्थान देना चाहिए। इतिहास के अवलोकन से पता चलता है कि कुछ ही समय पहले की बात है, जब हमारी कौम शिक्षा से परे थी तो किस तरह दुःखों से परिपूरित और सुखों से रहित थी । हम सुखों से पुनः परिपूरित तभी हो सकेंगे जब हम शिक्षा को अपनाएंगे। इसी से हम सुसंगठित होकर सर्व प्रकार से देश ,जाति, धर्म तथा राष्ट्र की सेवा कर सकेंगे।"[23] अपनी भाषा के महत्व के प्रति उद्गार का एक काव्य-अंश " -नहीं दीन दुखियों पै देते नजर हो / भुलाया तुझे चार है भोग भारी /तुझे तो निजी स्वार्थता सूझती है /अमृत में जो देश भाषा तुम्हारी /अपनी भाषा पराया बने हो /लिए भेष भूषा परायी अनारी /नहीं जानत हो नक़ल भी नकलची /बुरी आदतें बैन होती ख्वारी।।" [24]

भाषा का प्रश्न स्वाधीनता के प्रश्न जैसा ही अपरिहार्य और महत्वपूर्ण था। हिंदी को अंग्रेजी और फ्रेंच से भारी विरोध का सामना करना पड़ता था लेकिन देशभक्ति एवं स्वतंत्रता से ओतप्रोत हमारे पूर्वजों की दृढ़ता एवं पूर्वजों की थाती भाषा-संस्कृति की अस्मिता ने उन्हें आजादी की लड़ाई लड़ने में महत्वपूर्ण अस्त्र प्रदान किया था। इसके बल से उन्होंने स्वतंत्रता आन्दोलन में पत्र-पत्रिकाओं को हिंदी भाषा में निकालकर जनचेतना का एक बड़ा आन्दोलन निर्मित किया जो स्वतंत्रता की मार्ग प्रशस्ति में सहायक बना।

मॉरीशस की पत्रकारिता के इतिहास में **'जनता'** नामक पत्र का महत्वपूर्ण स्थान था। जनता पत्र का मूल उद्देश्य अप्रवासी भारतीयों के हृदय में राष्ट्रीयता के नवीन उद्वेग उत्पन्न करना था। जयनारायण राय की सम्पादकीय भाषा ने उस युग के करीब-करीब सभी सामाजिक संदर्भों को व्यक्त करने की चेष्टा की और कहना न होगा कि उसे इस क्षेत्र में अच्छी सफलता भी मिली। उनका सम्पादकीय इतना बोधगम्य एवं सारगर्भित होता था कि यह पत्र शीघ्र ही बहुत चर्चित हो गया। ज्वलन्त विषय ,सामाजिक ,राजनीतिक , धार्मिक ,आर्थिक एवं सांस्कृतिक ,इनसे जुड़ी समस्याओं पर आधारित उनके सम्पादकीय गहरी सूझ-बूझ एवं प्रेरणादायी सिद्ध होते थे। उदाहरणत: 'जयभारत' सम्पादकीय द्वारा वे लिखते हैं कि "जीवन एक संग्राम भूमि है ,मनुष्य को अपने लिए अपने कुटुम्ब के लिए और निज जाति के लिए निरन्तर झुकना पड़ता है; जिस व्यक्ति में यह बात होती है वह प्रगति के पथ पर अग्रसर होते जाते है और जिसमें इस भाव का अभाव हो जाता है, उसकी जिंदगी सारहीन हो जाती है .....प्रबल शत्रुओं को मारने की श्रेष्ठ नीति विदेशियों ने अपनायी थी। उसे समझने की बुद्धि हमारे राजाओं में नहीं रह गयी थी।"[25]

राष्ट्रीय आंदोलन एवं जागरण से ओतप्रोत जगदीश सिंह अजमेर की लिखी कविता 'हम भारत माँ के खरेलाल' जनता में छपी थी –

"मत समझो हमको भोले हैं। हम वही आग के गोले हैं।
जो एक बार भी भभक उठे। तो गोले बरसा दे लाल लाल।
हम भारत माँ के खरे लाल। हम मुर्दा देश जिला देंगे;
अत्याचार समूल हिला देंगे। दुश्मन को खेल दिखा देंगे।

हम नहीं बजाते हैं वृथा गाल। हम भारत माँ के खरे लाल।"[26]

मॉरीशस की राजनीति एवं सांस्कृतिक जागरण को सुप्रतिष्ठित करने ,पूर्वजों की भाषा भोजपुरी-हिन्दी को सक्षम बनाने एवं हिन्दी पत्रकारिता को गुरुत्व प्रदान करने में '**जमाना**' पत्र का महत्वपूर्ण योगदान है। 'हिन्दुस्तानी' से मॉरीशस में हिन्दी पत्रकारिता की शुरुआत अवश्य होती है लेकिन हिन्दी पत्रकारिता के प्रखर ,ओजस्वी एवं स्वतंत्रता आंदोलन का एक आदर्श स्वरूप स्थपित कर उसे पल्लवित-पुष्पित करने में 'जमाना' की भूमिका उल्लेखनीय है।

क्रांतिकारी पत्र के रूप में जमाना का उद्देश्य स्पष्ट था ,"जमाना इस मर्दों के जमाने की आवाज़ है इसे पढ़कर हजारों मॉरीशसवासी गुलाम की जिंदगी से नफरत करने लग जाते हैं और ज़माने की पुकार सुनने के लिए उद्धत होते हैं। जब तक जमाना रहेगा पवित्र आत्माओं को निराश होने की जरुरत न होगी।"[27]

मॉरीशस में धर्म प्रचार या मीटिंग उस ज़माने में मुख्य रूप से प्रो .वासुदेव विष्णुदयाल ही किया करते थे। मॉरीशस में विष्णुदयाल जी के आन्दोलन के बारे में भारत के प्रसिद्ध समाचार पत्र 'स्टेट्स मैन' ने इस रूप में लिखा था। "Nationals of Indian origin of descent have often been denied the freedom to preach or practise their religion in Mauritius."[28]

अप्रवासी भारतीयों को संगठित एवं जागृत करने , हिन्दी को जनान्दोलन की भाषा बनाने, 1948 में भारतीय भाषा में हस्ताक्षर अभियान चलाकर भारतीय मतदाताओं की संख्या वृद्धि कराने ,सत्याग्रह आंदोलन की नींव रखने ,धार्मिक आन्दोलन द्वारा हिन्दुओं की जातीय अस्मिता एवं संस्कृति की रक्षा करने ,धर्म के नाम पर सरकार द्वारा सब्सीदीज दिलाने में 'जमाना' ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी थी। इस प्रकार प्रो .वासुदेव विष्णुदयाल ने हिन्दुओं में आस्था-विश्वास एवं सांस्कृतिक जागरण जैसे महान कार्य का श्री गणेश किया। उनके इस कार्य से प्रभावित होकर मॉरीशस के भूतपूर्व गवर्नर सर हिलेरी ब्लड लिखते हैं—" मॉरीशस में पूर्व की विचारधारा और पश्चिमी विचारधारा में संघर्ष है। यह संघर्ष हो ही न पाता यदि प्रवासियों के बीच जागरण न होता , जागरण न होता तो 1948का नया विधान न मिलता। [29] "

कुल मिलाकर प्रो० वासदेव विष्णुदयाल और अन्यान्य पत्रकारों की लेखनी से प्रवाहित विचारधारा ने मॉरीशस में स्वतंत्रता का मार्ग प्रशस्त किया। 'जनता' और 'जमाना 'जैसे समाचार पत्र आम आदमी की चिंता और उनके हित के लिए कटिबद्ध थे। संघर्ष-काल (1968-1935)की पत्र-पत्रिकाएँ एक बड़ी जनशक्ति एवं जन-चेतना के निर्माण में संघर्षरत दिखती हैं। इस काल के पत्रों में विविध विषयों पर गंभीर लेख एवं विचार प्रकाशित हुए। साहित्यिक विधाओं एवं भाषा-संस्कृति के प्रति प्रेम को एक नयी ऊँचाई प्राप्त हुई और अप्रवासी भारतीय राजनीतिक स्वातंत्र्य की और उन्मुख हुए। भारतीय पत्रकार भी समय-समय पर मॉरीशस की समस्याओं एवं वहाँ के स्वतंत्रता सेनानियों के संघर्ष के प्रति अपनी पत्र-पत्रिकाओं में आस्था एवं समर्थन का भाव व्यक्त करते रहते थे। यहाँ तक कि गांधीजी स्वयं 'यंग इंडिया 'में मॉरीशस की समस्याओं का कई बार उल्लेख कर चुके हैं। राममनोहर लोहिया के शब्दों में 'प्रवासी भारतीय हिंदुस्तान के अंग हैं ,उनका दुःख-दर्द हमारा दुःख-दर्द है और हमारा दुःख-दर्द उनके दुःख-दर्द हैं।'[30] ऐसे महानुभावों के विचार निश्चित रूप से मॉरीशस के स्वतंत्रता आन्दोलन के लिए प्रेरणादायी एवं सहायक सिद्ध हुए।

उपसंहार

इस तरह स्वतंत्रता पूर्व हिंदी की पत्र-पत्रिकाओं ने राष्ट्रीय चेतना के निर्माण एवं सामाजिक-सांस्कृतिक-धार्मिक जीवन में व्याप्त तमाम जड़ता को पूरी तरह काटने का अद्भुत प्रयास किया और जन भावना को पूरी तरह उद्वेलित कर उसे स्वतंत्रता संग्राम के योग्य बनाया। गाँधीवादी नीतियों ,कार्यक्रमों ,खादी एवं स्वदेशी के प्रचार प्रसार में भी यहाँ की पत्रकारिता

संलग्न थी। मॉरीशस की हिंदी पत्रकारिता ने जहाँ हिंदी भाषा के स्वरुप को स्थिर करने का प्रयास किया वहीं इसने हिंदी के लेखकों ,कवियों एवं प्रचारकों के कार्य एवं जीवनवृत प्रकाशित करके जनसाधारण में से अनेक अनुयायी साहित्यकारों का निर्माण किया। साधारण जनता में अपने पूर्वजों की भाषा के प्रति प्रेम उत्पन्न किया और इसे संगठन की शक्ति के रूप में एक बड़े जनांदोलन की भाषा के रूप में परिवर्तित करने में सफलता प्राप्त की।

वस्तुतः स्वतंत्रता पूर्व मॉरीशस की पत्र-पत्रिकाओं का उज्ज्वल एवं गौरव पक्ष यह भी रहा है कि उसने राजनीतिक संघर्ष के साथ कदम-से-कदम मिलाकर जनता को उद्‌बुद्ध एवं उत्प्रेरित किया ,जिसके परिणामस्वरूप 12मार्च 1968 ,को मॉरीशस स्वतंत्रत हो सका।

सन्दर्भ सूची :

1. हिंदी पत्रकारिता विविध आयाम, वेद प्रताप वैदिक, पृष्ठ 290
2. मॉरीशस (1986) प्रहलाद रामशरण, पृष्ठ 861.
3. एन आउट लाइन सर्वे आफ जर्नलिज्म, मोट एण्ड अदर्स
4. डेनजरस स्टेट , विलियम्स पृष्ठ 7
5. एक्सप्लोरिंग जर्नलिज्म, ले. वुल्जले कैम्पवैल, पृष्ठ 5
6. हिंदी पत्रकारिता जातीय अस्मिता की जागरण भूमिका, कृष्ण विहारी मिश्र, पृष्ठ 37
7. हिन्दुस्तानी त्रैमासिक जुलाई, सितम्बर,1962, पृष्ठ 13
8. Hindustani is the first Hindi paper of Mauritius. This paper was weekly founded by Manilall Doctor in 1909. 1910 to 1914 it appeared as a daily financial trouble caused the disappearance of the Hindustani in 1914. By Sri Somduth Bhackory, Hindi in Mauritius, page 80.
9. इन्द्रधनुष पत्रिका (1985)
10. liberty of Individuals & Fraternity of men!! Equality of Races!!, Hindustani, 15 March 1909
11. मॉरीशस आर्य समाज का इतिहास, श्री रामधन पूरण, पृ. 33-34
12. मॉरीशस हिन्द महासागर में एक नवोदित राष्ट्र , प्रहलाद रामशरण पृ. 90-91
13. शिवरात्रि पत्रिका, 1976 (श्री गंगादत शर्मा का लेख), पृ. 33
14. हिन्दी पत्रकारिता और समाचार पत्रों की दुनिया, रत्नाकर पांडेय, पृ.384
15. वीर अर्जुन, 26 जुलाई, 1957
16. मॉरीशस आर्य समाज का इतिहास, रामधन पूरण, पृ. 74
17. मॉरीशस में हिन्दी साहित्य का उद्भव और विकास, श्यामधर तिवारी, पृ. 304
18. हिन्दुस्तानी 15 मार्च, 1909
19. मॉरीशस का इतिहास, पं. आत्माराम विश्वनाथ, पृ. 174-175
20. हिन्दुस्तानी, 2 मार्च, 1913
21. मॉरीशस आर्य पत्रिका, १ जून, 1911, पृष्ठ 2
22. मॉरीशस आर्य पत्रिका, 17 अगस्त, 1924, पृष्ठ 5
23. आर्यवीर-जागृति, 8 अप्रैल, 1949
24. जागृति, 30.11.1943
25. जनता, 14 जनवरी, 1953
26. जनता 7 अगस्त, 1956
27. ज़माना 8 अगस्त, 1952
28. Statesman Culcutta 8.6.48

29. जमाना, वर्ष-12 , संख्या 291 सरस्वती, मई, 1938

डॉ. कृष्ण कुमार झा
वरिष्ठ प्रवक्ता एवं अध्यक्ष ,सृजनात्मक लेखन एवं प्रकाशन विभाग, महात्मा गाँधी संस्थान, मॉरीशस

7

प्राचीन भारत में विज्ञान की परंपरा

डॉ .राकेश कुमार दूबे

जब से सृष्टि का निर्माण हुआ है और संसार की सर्वोत्तम वस्तु ज्ञान बनाया गया, उसको प्राप्त करने में भारत के लोग कभी भी किसी से पीछे नहीं रहे, ऐसा लोक कथाओं एवं लिखित साक्ष्यों से प्रमाण मिलता है। जब से विद्या सोपान की रचना हुई तभी से यह अमूल्य पदार्थ भाग्यशाली भारतवासियों को प्राप्त होता रहा और उसी के बल पर यहां के लोग प्राचीनकाल से ही ज्ञान प्राप्त करते रहे। जिस काल में संसार के अधिसंख्य देशों के निवासी गुफाओं एवं कंदराओं में रहते हुए जंगली एवं असभ्य जीवन जी रहे थे, उस काल में भारतवासी ज्ञान-विज्ञान में उन्नति कर एक सुसंस्कृत समाज का निर्माण कर चुके थे और उनकी सभ्यता उच्चासन को प्राप्त कर चुकी थी।

भारत प्राचीनकाल से ही एक उद्योग प्रधान एवं कृषि प्रधान देश रहा है और इसी कारण प्राचीनकाल से ही वह धन धान्य से परिपूर्ण रहा। 19वीं सदी में भारत में अंग्रेजी सत्ता कायम होने के साथ ही अपने शासन को जनाधार प्रदान करने के उद्देश्य से विदेशी लेखकों द्वारा भारत के संबंध में बहुत सी गलत और मनगढ़ंत बातों को लिखना और प्रचारित करना आरंभ किया गया। 19वीं सदी के अंग्रेज लेखकों का यह तकिया कलाम सा हो गया था कि अंग्रेजों को भारत की भलाई के लिए भगवान ने भेजा है क्योंकि उन्होंने ही इस देश को अराजकता एवं लूटमार से उद्धार किया है।[1] विदेशी लेखकों ने इस बात को प्रचारित किया कि भारत प्राचीनकाल से ही एक कृषि प्रधान देश रहा है और भारत की जो अवस्था आज है, वही आवस्था प्राचीनकाल से रही है। ज्ञान विज्ञान और ललित कलाओं के विकास में प्राचीन भारतवासियों का योगदान नगण्य रहा है। परंतु यदि ऐसा ही सत्य होता, और यदि वास्तव में भारत एक कृषि प्रधान देश होता हो भारत में इतनी धन संपदा कहा से आती। भारत में प्राचीनकाल से ही कीमती धातुओं-सोने और चांदी की खदानों कमी रही है और यदि वास्तव में भारत एक कृषि प्रधान देश होता तो कृषि पर आधारित अर्थव्यवस्था कभीं भी इतनी सशक्त नहीं हो सकती कि वह विदेशी धन को अपने यहां खींचकर ला सके। वास्तव में भारत प्राचीनकाल से ही विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी में समुन्नत और कृषि प्रधान होने के साथ ही एक उद्योग प्रधान देश था और यही प्राचीन भारत की वास्तविकता थी और इस संदर्भ में चित्रमय जगत पत्रिका का का कथन एकदम सत्य है के निकट है कि "हिंदू जाति की व्यर्थ निंदा उन्नीसवीं सदी ही से आरंभ हुई है। इसके पहले प्राचीन समय में हिंदुस्तान के विषय में ऐसी बुरी राय किसी की नहीं थी। उस समय तो दुनिया के लोग यही कहते थे कि हिंदुस्तान सोने की एक चिड़िया हैं। यह देश संपत्ति का भंडार है और यहां के निवासी सर्वगुण संपन्न है।"[2]

भारत में अंग्रेजी शासन के दौरान विज्ञान के विकास में प्राचीन भारतीयों का जो योगदान रहा है, उसके महत्व को स्वीकार न कर यही प्रचारित किया जाता रहा कि विज्ञान पाश्चात्य देशों की देन है। पाश्चात्य देशों ने विज्ञान का प्रारंभिक ज्ञान यूनान से प्राप्त किया था अतः उन्होंने यूनानी सभ्यता को ही विज्ञान के सूत्रपात का श्रेय दिया और अज्ञानवश भारतीय योगदान की सर्वथा उपेक्षा की। भारतीय प्राच्यविद एवं इतिहासकार भी इसी मत का अनुसरण करते रहे। इतिहास ग्रंथों में विज्ञान के क्षेत्र में भारतीयों द्वारा संपन्न कार्यों का उल्लेख हुआ ही नहीं और यदि हुआ भी तो यूनानी विज्ञान से प्रभावित ही बताया जाता रहा। ऐसा कुछ प्रदर्शित एवं प्रमाणित किया गया कि जैसे अरस्तु और सुकरात के पूर्व संसार

के किसी देश में ज्ञान-विज्ञान था ही नहीं। विज्ञान के इतिहास की सुप्रसिद्ध पुस्तकों में भारत का उल्लेख नाम मात्र या न के बराबर हुआ। प्राचीन भारतीयों ने अध्यात्म, धर्म, दर्शन, साहित्य और कला प्रभृति क्षेत्रों में जो उल्लेखनीय प्रगति की थी उसकी अपेक्षा विज्ञान (साइंस) में उनका योगदान अत्यंत स्वल्प या नहीं के बराबर था, ब्रिटिश शासनकाल में इसी प्रकार के तथा इससे मिलते जुलते विचारों और मान्यताओं को प्रचारित किया गया। भारतीयों को अपने गौरवशाली अतीत एवं तत्कालीन वैज्ञानिक उपलब्धियों के ज्ञान से वंचित रखने की यह एक सोची-समझी राजनीतिक चाल थी।[3]

प्राचीन काल से ही भारत के लोग ज्ञान-विज्ञान के अनेक क्षेत्रों में उन्नति करते रहे। वे आध्यात्मिक ज्ञान की चरम सीमा तक पहुंच कर भी भौतिक जीवन की ओर से उदासीन नहीं रहे। लौकिक सुख-सुविधाओं के लिए विज्ञान का प्रयोग अवश्य किया गया परंतु संयत भाव से। भौतिक एवं आध्यात्मिक जीवन का समन्वय करते हुए वैज्ञानिक उपलब्धियों को ज्ञानार्जन का साधन माना और उनके उपयोग को जन कल्याण की सीमा तक मर्यादित रखते हुए उनका दुरूपयोग प्रतिबंधित किया गया। इस बात का श्रेय भारतीय आर्यों को ही है कि उन्होंने इहलोक एवं परलोक संबंधी विविध तत्वों का व्यवहारिक समुच्चय उपस्थित किया। जीवन के शाश्वत सिद्धांतों को अपना आधार बनाकर उन्होंने न केवल भारतीय समाज का हित किया अपितु अपनी उदार भावनाओं से प्रेरित होकर उन्होंने आर्यत्व या सच्ची सभ्यता का प्रकाश विश्व के अन्य देशों में भी फैलाया।[4]

भारत का संपूर्ण आरंभिक साहित्य संस्कृत भाषा में लिखा हुआ प्राप्त होता है और इस साहित्य पर पाश्चात्य लेखकों ने यह आरोप लगाया कि इनमें विज्ञान विषयक जानकारियों का अभाव है। इस संदर्भ में प्रसिद्ध विज्ञान लेखक श्यामनारायण कपूर ने इतिहासकार कीथ के मत का उद्धरण दिया और उसका खंडन करते हुए लिखा कि "संस्कृत साहित्य के प्रसिद्ध एवं प्रतिष्ठित इतिहासकार ए0बी0 कीथ महोदय ने अपने ग्रंथ में लिखा कि 'संस्कृत साहित्य के उत्कर्ष काल में व्यवहारिक विज्ञान की कोई चर्चा नहीं है। विशेषतः उन क्षेत्रों की जहां प्रयोगात्मक ज्ञान अपेक्षित है।' परंतु जो नवीन अनुसंधान हुए और प्राचीन दुर्लभ संस्कृत ग्रंथों का अनुशीलन और अध्ययन हुआ उससे यह स्पष्ट हो गया कि व्यवहारिक विज्ञान के क्षेत्र में भी प्राचीन भारतीयों का योगदान किसी भी प्रकार से नगण्य या कम महत्वपूर्ण नहीं था।"[5] इस मत की पुष्टि मर्यादा पत्रिका से भी हो जाती है जिसने 1911ई. में ही लिखा था कि "अति प्राचीन काल में वैज्ञानिक शास्त्र भारतवर्ष के अमूल्य शास्त्रों में से था। यद्यपि अब कोई प्राचीन पुस्तक इस विद्या पर नहीं मिलते परंतु और ग्रंथों से यह बात सर्वथा सिद्ध होती है कि अन्य शास्त्रों की भाँति इस शास्त्र में भी भारत के ऋषि मुनि निपुण थे।"[6] प्राचीन भारत में विज्ञान का अस्तित्व था और संस्कृत में लिखे जो प्राचीन ग्रंथ अब उपलब्ध हैं और जिन ग्रंथों के संदर्भ मिलते हैं उनसे यह प्रमाणित होता है कि प्राचीन मनीषियों ने ज्ञान-विज्ञान के किसी भी क्षेत्र को अछूत नहीं माना था।

यदि ऐतिहासिक दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर प्राचीन भारतीय इतिहास का कालक्रम से अध्ययन किया जाय तो इसके लिए उस काल के स्रोतों का अध्ययन करना होगा। भारत के विषय में लिखित साक्ष्य ऋग्वैदिक काल से मिलता है और इससे पूर्व का संपूर्ण इतिहास पुरातात्विक स्रोतों पर आधारित है। वैदिक काल से जो लिखित सामग्री प्राप्त होती है वह संस्कृत भाषा और काव्य शैली में मिलती है क्योंकि भाषा की शोभा साहित्य और साहित्य की शोभा काव्य से होती है, इसी मूल पर हमारे यहां के विद्वानों ने सब आरंभिक ग्रंथ काव्य शैली में लिखे। पुरातात्विक स्रोतों में शिलालेखों, सिक्कों, मूर्तियों तथा स्थापत्य की कृतियों आदि के रूप में जो विशाल सामग्री उपस्थित हुई है उससे भारत की विज्ञान एवं औद्योगिक उन्नति की बातों का पता चलता है।

भारत के संदर्भ में व्यवस्थित पुरातात्विक साक्ष्य

हड़प्पा (सिंधु) सभ्यता से मिलता है और इस सभ्यता की खोज के बाद भारतीय सभ्यता मिश्र, असीरिया, सुमेरियन इत्यादि के समकालीन अथवा उससे भी प्राचीन सिद्ध हुई और इस सभ्यता की कुछ ऐसी उपलब्धियां थीं, जो समकालीन किसी भी सभ्यता में दिखलायी नहीं पड़ती। 1921-22ई0 में इस नवीन सभ्यता की खोज हुई और खुदाई के दौरान जो विशाल पुरातात्विक सामग्री उपस्थित हुई उसके अध्ययन से इस सभ्यता के निवासियों के रहन-सहन, खानपान, परिधान, समाज, संस्कारों के साथ ही उनकी कला-कुशलता का भी ज्ञान मिलता है। हड़प्पा सभ्यता में उनके नगर-निवेश, मकान, स्नानागार, नालियों एवं सड़कों का जो अवशेष मिलता है वह आधुनिक मानदंडों से भी उनकी बनावट अत्यंत सराहनीय है।[7]

सिंधु सभ्यता के जो अवशेष मिले हैं उससे यह ज्ञात होता है कि विज्ञान के क्षेत्र में भी सिंधु सभ्यतावासियों का योगदान महत्वपूर्ण था। व्यवस्थित नगर नियोजन, पक्की और विशिष्ट आकार की ईंटों से भवनों का निर्माण, घर के अंदर कुएँ एवं सीढ़ियों का बनाया जाना, चौड़ी और एक दूसरे को समकोण पर काटती सड़कें, माप तौल के लिए विशिष्ट बाटों का प्रयोग तथा विशिष्ट अवसरों के लिए निर्मित किया गया विशाल स्नानागार सिंधुवासियों के वैज्ञानिक ज्ञान की परिपक्वता को प्रदर्शित करता है। जल निकास की व्यवस्था इतनी उत्तम थी कि नगर जमींदोज नालियों के विशाल जाल से भरा था जो उस युग में संसार में अद्वितीय थी।[8] यद्यपि सिंधु सभ्यता में मिले सीलों पर अंकित अक्षर पढ़े नहीं जा सके हैं फिर भी मिले अवशेषें से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में सिंधुवासियों के योगदान को कम कर के आँका नहीं जा सकता और इन्हीं बातों को ध्यान में रखकर प्रसिद्ध विज्ञान लेखक ओमप्रकाश शर्मा ने अपनी पुस्तक में लिखा कि ''आज से 5000 वर्ष पूर्व सिंधु घाटी में एक ऐसी सभ्यता का निवास था, जो अपने युग की सभ्यताओं में काफी बढ़ी चढ़ी थी।''[9]

भारत के विषय में लिखित साक्ष्य ऋग्वैदिक काल से मिलता है और ऋग्वेद इस संदर्भ में प्रथम ग्रंथ है। ऋग्वेद विश्व की प्राचीनतम् पुस्तक है जो प्राचीन भारतीय आर्यो की राजनीतिक व्यवस्था के साथ ही उनके ज्ञान-विज्ञान, दर्शन, धर्म, कला एवं साहित्यिक उपलब्धियों का एकमात्र स्त्रोत है। यह संपूर्ण ग्रंथ ऋचाओं में लिखा गया है। पाश्चात्य लेखकों द्वारा आर्यों के बारे में यह लिखा गया कि वे कबीलाई जीवन जीने वाले चरवाहे थे जो विभिन्न समूहों में विभाजित थे। परंतु यदि वास्तव में वे चरवाहे होते तो उनके ग्रंथ इतनी श्रेष्ठ भाषा एवं शैली में नहीं होते। भौतिक जगत को समझने की चेष्टा सर्वप्रथम प्राचीन आर्यों ने ही आरंभ की थी। ऋग्वेद ग्रंथ के 'विश्वकर्मा सूक्त' में इस प्रकार के प्रश्न उठाये गये है कि 'सृष्टि का अधिष्ठान क्या है? इसका आरंभ कैसे हुआ? किस पदार्थ से यह जगत बना? इसका रचयिता कौन है?'[10] इन प्रश्नों में से कुछ का उत्तर तो अभी आधुनिक भौतिकी को भी देना बाकी है। इसी प्रकार ऋग्वेद के नासदीय सूक्त (10। 129) में इस बात का संकेत किया गया है कि सृष्टि के आरंभ में गहन गंभीर अंभस (अथाह जल) था और आधुनिक विज्ञान का भी इस बारे में यही मत है।

विज्ञान का विकास भारत में वैदिक काल से ही प्रारंभ हो जाता है। वेदों में गणित, ज्योतिष, आयुर्वेद एवं कृषि सदृश अनेक व्यवसायिक विज्ञानों के विकसित होने के प्रमाण उपलब्ध हैं। वैदिक सभ्यता यज्ञ प्रधान रही है। विभिन्न उद्देश्यों से लौकिक एवं पारलौकिक अभ्युत्थान हेतु कई प्रकार के यज्ञ नियमित रूप से होते रहते थे। इसके लिए विशिष्ट प्रकार की ज्यामितीय आकार की वेदिकाएं बनती थीं। यज्ञों के लिए मुहूर्त निश्चित होते थे। यज्ञों की सुव्यवस्था एवं सफल संपादन के लिए गणित, ज्यामिति और ज्योतिष तथा खगोल विज्ञान विकसित हुए। गणित विशेषतः उसकी दार्शनिक अंक प्रणाली और शून्य का आविष्कार

विश्व को भारत की सबसे महत्वपूर्ण देन स्वीकार की जाती है।[11] वास्तव में वैदिक यज्ञ संस्था को ज्ञान-विज्ञान की और भी अनेक शाखाओं के सूत्रपात और विकसित करने का श्रेय है।

देश की समृद्धि और आर्थिक प्रगति के लिए विज्ञान का उपयोग अति प्राचीन काल से प्रचलित रहा है। वैदिक काल में खेती, पशुपालन और साथ ही वस्त्रोद्योग भी उन्नत अवस्था में था। सूत की कताई का प्रथम जन्म ऋग्वेद से परिचित मानव समूह में हुआ और ऐसा माना जाता है कि कताई का आविष्कार भारत की आर्य परंपरा ने किया। 'तन्तुं ततुष्व', 'तन्तुमातन्वते' आदि शब्द तन्तु निकालकर तानने के अर्थ में ऋग्वेद के अनेक स्थलों में पाये जाते हैं।[12] वैदिक साहित्य में चरखा और ताने-बाने से वस्त्र उत्पादन के साथ ही रंगीन वस्त्रों के भी उल्लेख हैं। निश्चय ही कपड़ा रँगने की प्रक्रिया ज्ञात हो चुकी होगी। वैदिक साहित्य में ऊर्णा (ऊन) के वस्त्रों का जिक्र मिलता है। गांधार (आधुनिक पेशावर जिला तथा उसके आसपास के क्षेत्र) की ऊन सबसे अधिक प्रसिद्ध थी। रेशमी वस्त्र भी तैयार किए जाते थे। इसके लिए वैदिक साहित्य में 'क्षौम' और 'ताप्य' शब्द मिलते हैं।[13]

वैदिक काल में बढ़ईगिरी का व्यवसाय ऊंचे दर्जे का समझा जाता था। रथ एवं नौका निर्माण का कार्य बड़ी मात्रा में किया जाता था। वैदिक साहित्य में नौका निर्माण और जल यात्राओं के कई प्रमाण मिलते हैं। आर्यों ने जल यात्रा को प्रोत्साहन देने के लिए नौकाओं के निर्माण की ओर ध्यान दिया। इस बात के पुष्ट प्रमाण नहीं प्राप्त हो सके हैं कि उन्होंने नवनिर्माण कला द्रविड़ों से या अन्य किसी पश्चिमी जाति से सीखी थी या उसके आविष्कारक वे स्वयं ही थे। तत्कालीन साहित्य से केवल इतना ही पता चलता है कि आर्य लोग जल यात्रा के बड़े प्रेमी थे। ऋग्वेद में लंबी यात्राओं में जाने वाले बड़े जहाजों के उल्लेख मिलते हैं। तुग्र नामक ऋषि ने अपने लड़के भुज्य को एक बड़े जहाज में बैठाकर शत्रुओं से लड़ने को भेजा था। मार्ग में कुछ गड़बड़ हो जाने से भुज्य का जहाज डूबने लगा तब भुज्य ने रक्षा के लिए अश्विनीकुमारों से प्रार्थना की। अश्विनी कुमारों ने सौ डाॅंड़ों वाला एक बहुत बड़ा जहाज रक्षा के लिए भेजा जिस पर भुज्य और उसके साथी बैठे और तब उन्होंने अपनी यात्रा पूरी की।[14]

गणित और ज्योतिष का आरंभ भी ऋग्वैदिक काल से ही होता है। अंकों का ज्ञान एवं गणित की क्रियाओं की पहली जानकारी ऋग्वेद में ही मिलती है। पूर्ण संख्याओं के अतिरिक्त भिन्न संख्याओं के प्रयोग की पहली जानकारी भी इसी समय से ज्ञात होती है। ऋग्वेद में आधे के लिए 'अर्ध', तीन-चैथाई के लिए 'त्रिपाद' (10। 90। 4) शब्दों का प्रयोग हुआ है। मैत्रायणी संहिता (3। 7। 7) में 1/16 के लिए 'कला', 1/12 के लिए 'कुष्ठ', 1/8 के लिए 'शफ' और 1/4 के लिए 'पाद' शब्दों का व्यवहार हुआ है।[15] गणित के समान ही ज्योतिष शास्त्र का साधारण ज्ञान पहले पहल स्वयं ऋग्वेद में मिलता है। वर्ष 12 चंद्र मासों में बटा था और चंद्र वर्ष को सूर्य वर्ष से मिलाने के लिए एक तेरहवां अर्थात् अधिक मास जोड़ दिया जाता था (1, 25, 8)। वर्ष की छः ऋतुओं के नाम मधु, माधव, सुक्त, सुचि, नभ और नभस्थ थे, और उनका संबंध भिन्न भिन्न देवताओं से कर दिया गया था। चंद्रमा के भिन्न भिन्न रूप उन लोगों को मालूम थे और यह देवताओं के अवतार माने जाते थे। उत्तर वैदिक काल में ज्योतिष की बहुत ही उन्नति हुई। उस काल में ज्योतिष एक अलग शास्त्र समझा जाने लगा। श्याम यजुर्वेद में 28 नक्षत्रों के नाम दिए गए हैं।[16]

गणित और ज्योतिष के समान ही चिकित्सा शास्त्र का ज्ञान भी भारतवासियों को प्राचीनकाल से ही था। आयुर्वेद चिकित्सा पद्धति का ज्ञान ऋग्वैदिक काल से ही मिलता है। ऋग्वेद (1। 12। 16) में आयुर्वेद के जन्मदाता दिवोदास, भारद्वाज और अश्विनीकुमार कहे गये हैं। ऋग्वेद के प्रथम मंडल के 89वें सूक्त को 'स्वास्तिवाचन सूक्त' कहा जाता है।

इसके सभी दस मंत्रों में दीर्घ, स्वस्थ तथा निरोग जीवन की प्रार्थना की गयी है।[17] रोग प्राप्ति हो जाने पर रोग-हर औषधियों को प्राप्त कराने की प्रार्थना भी है। रोगों के कारण अल्पायु को दूर करने की प्रार्थना तथा पुत्रों की दीर्घायु एवं स्वस्थ जीवन की प्रार्थना भी उसमें उपलब्ध है।

अथर्ववेद चिकित्साशास्त्र का जन्मदाता माना जाता है। इसे 'आंगिरस' या 'भिषग्वेद' भी कहते हैं। अथर्ववेद से आयुर्वेद शास्त्र ने प्रथम प्रेरणा पायी और सुश्रुत एवं चरक इस शास्त्र के आरंभिक महान ज्ञाता हुए। 'चरक संहिता' चरक द्वारा रचित विख्यात ग्रंथ है, जो भारत का अति प्राचीन वैद्यक ग्रंथ है। उनका ग्रंथ केवल चिंतन, मनन और अंतर प्रज्ञा ज्ञान पर आधारित नहीं है बल्कि तर्क प्रज्ञा पर विशेष बल दिया गया है। 'चरक संहिता' में आयुर्वेद चिकित्सा में प्रचलित लगभग 700 जड़ी-बूटियों और वन औषधियों के गुण दोषों को जिस विस्तार से बताया गया है वह प्रायोगिक एवं व्यवहारिक निरीक्षण एवं परीक्षण के बिना संभव नहीं है। आयुर्वेद का विकास यहां बहुत दिनों तक होता रहा और जब भी कोई नयी बीमारी उत्पन्न हुई, आचार्यों ने उसकी चिकित्सा का उपाय जरुर सोचा।[18] अपामार्ग, पिप्पली और अरुंधति-ये तीन सर्वप्रथम वनस्पतियां हैं, जिनका प्रयोग व्याधियों और कष्टों के निवारण में करना मनुष्य ने आदिम काल में सीखा और जिसका उल्लेख वैदिक साहित्य में मिलता है। इन औषधियों का उल्लेख 'चरक संहिता' में भी ग्रंथ के आरंभ में ही मिलता है। चरक संहिता का प्रथम अध्याय तो भूमिका मात्र है, और इस अध्याय के बाद दूसरा अध्याय इस वाक्य से आरंभ होता है-'अपामार्गस्य बीजानि पिप्लीर्मरिचानि च।' (सूक्त 2। 3)। इस बात से ही अपामार्ग और पिप्पली की, जिसका विशद उल्लेख अथर्ववेद में है, प्रधानता का अनुमान होता है।[19]

वेदों के अलावा षट्दर्शनों, उपनिषदों एवं पुराणों में भी विज्ञान विषयक बातों का उल्लेख मिलता है। आधुनिक विज्ञान में जॉन डाल्टन के परमाणुवाद का अत्यंत महत्वपूर्ण योगदान माना जाता है। परंतु भारत के कणाद ऋषि डाल्टन से अनुमानतः 2000 वर्ष पूर्व ही परमाणुवाद प्रतिष्ठित कर चुके थे। भागवत पुराण में भी परमाणु की सही सही परिभाषा दी गई है। पुराणों में जल में अग्नि का वास होने का उल्लेख है। इससे जल से ऊर्जा प्राप्त होने ही का आशय नहीं बल्कि वरुण (जल) के योगिक होने का भी संदेश मिलता है। आधुनिक भाषा में जल को हाइड्रोजन और ऑक्सीजन का योगिक माना जाता है। पुराण की भाषा में जल पृथ्वी तत्व हाइड्रोजन और अग्नि तत्व ऑक्सीजन का योगिक है।[20] वास्तव में पुराणों में अनेक वैज्ञानिक तथ्यों का उल्लेख मिलता है।

उपनिषद काल में भी ज्ञान-विज्ञान की उन्नति के उल्लेख मिलते हैं अैर इस काल में ज्योतिष के अलावा अन्य शास्त्रों की भी उन्नति हुई। छान्दोग्य उपनिषद (7,1,2) में नारद सनत कुमार से कहते हैं ''महाशय, मैं ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, चैथे अथर्वन वेद, पाॅचवें इतिहास पुराण, वेदों का वेद (व्याकरण) जानता हूँ। पित्र्य (पितरों के श्राद्धादि), रासि (गणितशास्त्र), दैव (अशुभ लक्षणों का शास्त्र), निधि (समय का शास्त्र), वाकोवाक्य (तर्कशास्त्र), एकायन (नीति विद्या), देव विद्या (शब्दों की उत्पत्ति की विद्या), ब्रह्मविद्या (उच्चारण तथा छन्द निर्माण आदि का शास्त्र), भूत विद्या, क्षत्र विद्या (शस्त्र चलाने की विद्या), नक्षत्र विद्या (ज्योतिष शास्त्र), सर्प देवजन्य विद्या, यह सब मैं जानता हूँ।''[21]

वैदिक साहित्य-वेद, वेदांग, ब्राम्हण एवं उपनिषद् प्रभृति उच्च कोटि की आध्यात्मिक रचनाओं के साथ ही ऋषियों ने आयुर्वेद, धनुर्वेद, गणित, ज्योतिष, रसायन, शिल्प, पशु चिकित्सा इत्यादि

व्यवहारिक वैज्ञानिक विषयों पर भी लेखन कार्य किया और ज्ञान विज्ञान के उपयोग की कोई विधि और क्षेत्र ऐसा नहीं था जिस पर भारतीयों ने ध्यान न दिया हो। प्राचीन भारतीय ग्रंथों से प्राप्त ज्ञान के आधार पर ही जगदीशचंद्र बसु आधुनिक वैज्ञानिकों के समक्ष स्वनिर्मित यंत्रों द्वारा पेड़ पौधों और वनस्पतियों को प्रत्यक्ष रूप से सजीव सिद्ध करने में सफल हुए थे। इसी प्रकार ब्रिटिश शासनकाल में आचार्य प्रफुल्लचंद्र राय ने रसायन संबंधी प्राचीन संस्कृत ग्रंथों का अध्ययन करके उनके आधार पर तत्कालीन भारतीय रसायन विज्ञान संबंधी अपने शोधों से पाश्चात्य रसायनविज्ञों को आश्चर्यचकित कर दिया था।

शून्य का आविष्कार एवं दाशमिक प्रणाली का विकास और इसकी सहायता से दश, शत, सहस्त्र आदि का व्यक्त करना संसार की सबसे बड़ी खोजों में से एक है और प्रसिद्ध विज्ञान-लेखक श्यामनारायण कपूर इसे प्राचीन भारतीयों की 'विश्व को सबसे बड़ी देन' बतलाया है और लिखा है कि "प्राचीन भारतीयों-विशेष रूप से वैदिक काल के भारतीयों की विश्व को सबसे बड़ी देन गणित और उसकी संख्याओं का आविष्कार तथा दाशमिक प्रणाली है। दाशमिक प्रणाली में भी सबसे अधिक महत्व शून्य का है। विज्ञान की जो प्रगति आज हो रही है उसकी कल्पना भी 'शून्य' के बिना नितांत असंभव है।"[22] वास्तव में गणित में शून्य का प्रयोग करना इस देश का बड़ा ही महत्वपूर्ण आविष्कार है। विक्रम संवत् के आरंभ में ही इसका आविष्कार हो गया था और संख्याओं की श्रेणी में इसे स्थान मिल गया था। वराहमिहिर (505ई0) की 'पंचसिद्धांतिका' में जोड़ और बाकियों में शून्य के प्रयोग का उल्लेख है अर्थात् यह बताया गया है कि शून्य में से कैसे घटाया या जोड़ा जा सकता है।[23] प्राचीन भारतीयों द्वारा शून्य और दाशमिक प्रणाली के आविष्कार किये जाने की सराहना क्षेगल जैसे विद्वान ने भी मुक्तकंठ से की और बहुत ही स्पष्ट शब्दों में अपना विचार व्यक्त किया था कि मनुष्य द्वारा किये गये आविष्कारों में वर्णमाला के बाद 'दाशमिक स्थानमान पद्धति' का आविष्कार सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। दाशमिक स्थानमान पद्धति शून्य के प्रयोग पर आधारित है। यदि शून्य और दाशमिक स्थानमान पद्धति का आविष्कार न हुआ होता तो भारतीय अंक, अन्य अंकों से न तो श्रेष्ठ समझे जाते और न ही उनका सर्वत्र आदर होता।[24]

नंद-मौर्य काल में भी विज्ञान के विविध विभागों में उन्नति दिखलायी पड़ती है। इस समय तक राजतंत्रात्मक शासन व्यवस्था के सुदृढ़ीकरण एवं विस्तृत साम्रज्य की स्थापना के बाद तत्कालीन शासकों ने राज्य में सब प्रकार की सुव्यवस्था एवं ज्ञान-विज्ञान तथा कला-कौशल की उन्नति पर बल दिया। अर्थशास्त्र और अन्य समकालीन ग्रंथों के विवरणों से यह ज्ञात होता है कि उद्योग और व्यापार को सक्रिय प्रोत्साहन देना राजा का धर्म था। यह बात अर्थशास्त्र के जनपद-विनिवेश प्रकरण से प्रकट हो जाती है जिसमें देहात के उपनिवेशीकरण के अनेक उपाय बतलाये हैं। इन उपायों में जंगलों और खानों का सममुचित उपयोग, व्यापार के मार्गों का निर्माण और उनकी सुरक्षा का प्रबंध, नगर मंडियों की स्थापना शामिल है।[25]

मौर्यकाल में रसायनशास्त्र में भी उन्नति दिखलायी पड़ती है। अर्थशास्त्र यद्यपि विज्ञान विषयक ग्रंथ नहीं है फिर भी उसमें सुरा और किण्व का विवरण मिलता है। किण्व की सहायता से सुरा तैयार करने का जितना विस्तृत विवरण कौटिल्य के अर्थशास्त्र में मिलता है, उतना अन्य किसी प्राचीन पुस्तक में नहीं। यह सुरा सुराध्यक्ष के निरीक्षण में जनपद में और दुर्ग तथा स्कंधावार (छावनी) में सुरा-किण्व के अनुभवी व्यक्तियों द्वारा तैयार की जाती थी।[26]

मौर्यकाल, विशेषकर अशोक का काल, अपने कला कौशल एवं अभियांत्रिकी के लिए भी जाना जाता है। बौद्ध धर्म के प्रचार एवं अपनी राजाज्ञाओं को जनता तक पहुॅचाने के लिए अशोक ने जिन गुफाओं एवं स्तंभों का निर्माण करवाया वे तत्कालीन भारत के अति उन्नत कला कौशल एवं अभियांत्रिकी

को भी व्यक्त करते हैं। अशोक ने अपने धम्म प्रचार के लिए जिन एकाश्मक स्तंभों का निर्माण करवाया और उन्हें देश के विभिन्न भागों में स्थापित करवाया वे अधिकांशतः चुनार के बलुआ पत्थरों से निर्मित हैं और इसपर एक विशेष प्रकार की चमकदार पालिश है। इन स्तंभों के शीर्ष भी एकाश्मक हैं जिनके ऊपर के अंतिम गोल के बीच बहुत ही भव्य पशु आकृतियां मंडित हैं। बसाढ़ के स्तंभ के ऊपर सिंह, रामपुरवा के ऊपर वृषभ, संकिसा के ऊपर हाथी, लौरिया नंदनगढ़ पर सिंह तथा साॅंची और सारनाथ के स्तंभ के ऊपर एक साथ चार सिंहों की आकृतियां मंडित हैं जिनमें सबसे भव्य शीर्ष सारनाथ के स्तंभ का हैं।[27] मौर्यकाल के अधिकांश स्तंभ चुनार के बलुआ पत्थरों से निर्मित हैं और ये अत्यंत ही विशाल और एकाश्मक हैं और ये देश के विभिन्न भागों में स्थापित किये गये थे तो इस बात को केवल सोचकर ही अत्यंत आश्चर्य होता है कि एक ही पत्थर से इतने बड़े स्तंभ का निर्माण कैसे किया गया और इससे भी बढ़कर इस बात पर कि इतने बड़े स्तंभों को किस विधि से इतनी दूर-दूर ले जाकर स्थापित किया गया। इस बात पर प्रसिद्ध इतिहासकार के0 ए0 नीलकंठ शास्त्री ने भी आश्चर्य प्रकट किया था और अपना मत लिखा कि "मौर्यकालीन अधिकांश स्तंभ चुनार के बलुआ पत्थरों से निर्मित हैं। ध्यान देने की बात यह है कि ये विशाल स्तंभ पश्चिम में दिल्ली से लेकर पूरब में बसाढ़ और दक्षिण में सांची तक के विस्तृत प्रदेश में बिखरे पड़े हैं। इतने विशाल स्तंभों की इतने बड़े पैमाने पर निर्माण करने की कल्पना, योजना कार्यांवयन में तत्कालीन कलाकारों को शक्तिशाली राज्य के विश्वस्त साधन अवश्य ही सुलभ रहे होंगे।[28]

शक्तिशाली गुप्तों के उदय के फलस्वरूप भारत में एक बार पुनः ज्ञान-विज्ञान की उन्नति दिखलायी पड़ती है। वाकाटक-गुप्तकाल को भारत में शिल्प एवं वाणिज्य की उन्नति के काल के रूप में भी जाना जाता है। इस युग में जिस प्रकार सामाजिक, कलात्मक एवं साहित्य क्षेत्र में अभूतपूर्व उन्नति हुई, उसी प्रकार आर्थिक एवं वैज्ञानिकृ दृष्टि से भी यह काल उन्नत रहा। भारत के तत्कालीन राजवंशों में गुप्त, वाकाटक, कदंब तथा पल्लव शासकों ने देश के शिल्प एवं वाणिज्य की उन्नति में सहयोग दिया। इस काल में देश धन-धान्य से संपन्न हो गया था। व्यवसायिक नगरों की संख्या में काफी वृद्धि हुई। अब भड़ौच, पैठण, विदिशा, उज्जैनी, पाटलिपुत्र, कुंडिनपुर, मथुरा, अहिच्छत्र, कौशांबी, प्रयाग, अयोध्या, काशी, वैशाली आदि कितने ही बडे नगर दिखलाई पड़ने लगे थे। देश में अनेक प्रकार के शिल्प उन्नति पर थे। वस्त्रोद्योग, जवाहरातों का काम, लोहा, तांबा, लकड़ी तथा हाथीदांत के उद्योग बहुत बढ़े-चढ़े थे। विविध क्षेत्रों में अभूतपूर्व उन्नति के कारण ही गुप्त काल भारतीय इतिहास में स्वर्ण युग के नाम से प्रसिद्ध है।[29]

इस काल में कई ऐसे आचार्य हुए जिन्होंने गणित और ज्योतिष में अपना महत्वपूर्ण योगदान देकर प्राचीन भारत का गौरव बढ़ाया जिनमें प्रथम नाम आर्यभट्ट का आता है जिन्होंने संस्कृत की वर्णमाला को संख्यामान प्रदान करके एक नई अक्षरांक पद्धति को जन्म दिया। आर्यभट्ट अपने ग्रंथ 'आर्यभटीय' में जानकारी दिये है कि 23 साल की आयु में 499ई0 में उन्होंने 'आर्यभटीय' की रचना की। वह एक श्लोक में यह भी जानकारी देते हैं कि अपने ग्रंथ की रचना उन्होंने कुसुमपुर में की, जिसे आजकल पटना कहा जाता है। आर्यभट्ट के आर्यभटीय में केवल 33 श्लोक हैं और इन 33 श्लोकों में ही उन्होंने अपने समय तक ज्ञात गणित की सभीं प्रमुख बातों को भर दिया है। पुस्तक के आरंभ में अंकगणित के परिकर्मा के नियम दिये हैं फिर रेखागणित के नियम। आर्यभट्ट एक विलक्षण प्रतिभा के व्यक्ति थे जिन्होंने अंकगणित, बीजगणित, रेखागणित, त्रिकोणमिति और ज्योतिष के क्षेत्र में अविस्मरणीय योगदान दिया। उनकी एक बहुत ही बड़ी उपलब्धि यह है कि उन्होंने पाई का एक काफी शुद्ध और सन्निकट मान दिया है-3.1416. आर्यभट्ट से

पहले किसी भी गणितज्ञ ने पाई का इतना शुद्ध मान नहीं दिया था।[30]

गुप्तकाल में आर्यभट्ट के अलावा भास्कर प्रथम, वराहमिहिर, ब्रह्मगुप्त इत्यादि कई गणितज्ञ एवं ज्योतिषाचार्य हुए जिन्होंने गणित और ज्योतिष के क्षेत्र में अपनी अमिट छाप छोड़ी। आर्यभट्ट प्रथम के शिष्य भास्कर प्रथम ने 'महाभास्करीय' और 'लघुभास्करीय' जैसी उत्कृष्ट ग्रंथों की रचना की परंतु इनसे भी श्रेष्ठ आचार्य हुए वराहमिहिर, जिन्होंने ज्योतिष की प्रत्येक शाखा पर ग्रंथ लिखा। वराहमिहिर का प्रसिद्ध ग्रंथ 'पंचसिद्धांतिका' है जिसमें पॉच सिद्धांतों-पौलिश, रोमक, वसिष्ठ, सौर और पैतामह का संग्रह है। इनके अन्य ग्रंथ 'वृहसंहिता' या 'वाराहीसंहिता' और 'वृहज्जातक' हैं, जिनमें ग्रहणों की गणना करने का विशेष प्रसंग है।[31] ब्रह्मगुप्त का योगदान भी इस युग में अति महत्वपूर्ण था। उनका ग्रंथ 'ब्रह्मस्फुटसिद्धांत' है जिसमें 24 अध्याय है। वह संसार के पहले गणितज्ञ हैं जिन्होंने एक विशिष्ट प्रकार के अनिर्धारित वर्ग समीकरण (वर्ग-पद्धति) का हल प्रस्तुत किया।43 आर्यभट्ट, वराहमिहिर और ब्रह्मगुप्त को भारत के साथ ही विश्व के अग्रणी ज्योतिषाचार्य एवं गणितज्ञ होने का गौरव प्राप्त है। भास्कराचार्य जैसे उत्कृष्ट भारतीय आचार्य ने ब्रह्मगुप्त को 'गणकचक्रचूड़ामणि' कहा है, और इनके मूलांकों को अपने 'सिद्धांतशिरोमणि' का आधार माना है।[32]

गुप्तकाल में विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी की कुशलता का उत्कृष्ट उदाहरण दिल्ली का लौहस्तंभ है। दिल्ली में मेहरौली में कुतुबमीनार के निकट स्थापित यह लौहस्तंभ भारतवर्ष के लौह निर्माण कौशल का जीता-जागता नमूना है जो यह प्रमाणित करता है कि गुप्तकाल में खनिज विज्ञान अत्यंत विकसित अवस्था में था और यहां के लोगों को धातु शोधन और ढलाई की कला में विशेष दक्षता प्राप्त थी। यह स्तंभ 23 फुट 8 इंच ऊँचा, नीचे की ओर 16.4 इंच व्यास का और ऊपर चलकर 12.05 इंच व्यास का है और इसका वनज लगभग 6 टन है। इस पूरे स्तंभ की ढलाई एक साथ की गयी है। इतनी लंबी और वजनी धातु की ढलाई न केवल उन दिनों अन्यत्र अज्ञात थी वरन् आज भी सहज नहीं समझी जाती है। यह स्तंभ देढ़ हजार वर्षों से सर्दी, गर्मी, बरसात सहता हुआ खुले में खड़ा है पर उसमें तनिक भी न तो जंग लगा है और न ही किसी प्रकार की विकृति उत्पन्न हुई है।[33] इस स्तंभ का धातु शोधन आज तक लोगों के लिए एक रहस्य बना हुआ है और यूरोप में औद्योगिक का्रंति के बाद भी 19वीं सदी तक इस प्रकार का निर्माण कर पाना संभव नहीं था।

भारत पर न पता कितने ही विदेशी आक्रमण हुए और युद्धों में सभ्यता और संस्कृति के कितने ही अवशेष नष्ट हो गये। भारत में जो बहुत से स्थापत्य और चित्रकारियां बच गई हैं उनके अवलोकन से भी ज्ञात होता है कि भारत में जहाजों का अस्तित्व प्राचीन काल से रहा है। पुरी का जगन्नाथ मंदिर 12वीं सदी में बना है और उस पर भी जहाज का चित्र खींचा हुआ है। भुवनेश्वर में ही एक पुराना मंदिर है जो विन्दु सरोवर के पश्चिम में स्थित है। मंदिर का नाम वैतालद्यूल है। वैतार (ल) शब्द का अर्थ 'जहाज' है और चूंकि यह मंदिर जहाज के आकार का बना है इसलिए इसका नाम वैताल पड़ा। इन चित्रों से भी इस बात को काफी बल मिलता है कि प्राचीन भारत में जलयानों एवं नौकाओं का निर्माण होता था।[34]

एक प्रश्न यह भी उठता है कि यदि प्राचीन भारत में विज्ञान की इतनी सशक्त परंपरा थी तो फिर उसकी अवनति क्यों हुई। इस संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि एक तो भारत की मौखिक परंपरा और दूसरे परवर्ती काल में जाति बंधन की कठोरता इसके लिए बहुत कुछ उत्तरदायी मानी जा सकती है। लाला लाजपत राय जैसे राष्ट्रवादी विचारक ने भारत की वैज्ञानिक परंपरा की अवनति के कारणों में जाति व्यवस्था को प्रमुख माना था और अपना अभिमत व्यक्त करते हुए लिखा था कि "हिंदुओं ने यह भूल की

कि उन्होंने धार्मिक पवित्रता और शौच की दृष्टि से प्रायः प्रत्येक व्यवसाय और शिल्प को नीच बना दिया। चमड़े का काम करने वालों, कसाइयों, चांडालों आदि से आरंभ करके उन्होंने शनैः शनैः सभी शिल्पों और व्यवसायों को घृणा की दृष्टि से देखना आरंभ कर दिया। यहां तक कि संभ्रांत काम केवल दो तीन रह गये। अर्थात् ब्राह्मण का कर्म, क्षत्रिय का कर्म और वाणिज्य का काम। यह भूल हिंदू धर्म के अधःपतन के काल की है।"[35] जाति प्रथा की कठोरता और प्रायोगिक परीक्षणों को हेय समझा जाने लगा फलस्वरूप परीक्षण के स्थान पर सैद्धांतिक बातों पर जोर दिया जाने लगा और यहीं से विज्ञान की अवनति आरंभ हुई और भारत में विज्ञान का सूर्य अस्त हो गया और फिर वह यूरोपिय विज्ञान के प्रकाश के रूप में ही पुनः उदित हुआ।

भारत के लोग प्राचीनकाल से ही ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में काफी बढ़े-चढ़े थे। आध्यात्म और तत्वज्ञान की चरम सीमा प्राप्त करते हुए भी वे भौतिक जीवन से विमुख नहीं हुए थे बल्कि दोनो ही क्षेत्रों में आशातीत उन्नति कर दोनों का उद्‌भुत समन्वय उपस्थित किया था। जीवन के शाश्वत सिद्धांतों को अपना आधार बनाकर उन्होंने भारत के साथ ही विश्व कल्याण का मार्ग दिखलाया था, जो प्राचीन आर्य ग्रंथों में देखा जा सकता है। ये प्राचीन ग्रंथ, जो अधिकांशतः संस्कृत में लिखे गये हैं, पर पाश्चात्य विद्वानों ने यह आरोप लगाया कि इनमें तत्वज्ञान की बातें तो हैं, पर विज्ञान विषयक जानकारियां नगण्य हैं। परंतु नवीन अनुसंधानों एवं प्राचीन दुर्लभ संस्कृत ग्रंथों के अनुशीलन और अध्ययन से यह स्पष्ट हो गया है कि व्यवहारिक विज्ञान के क्षेत्र में भी प्राचीन भारतीयों का योगदान किसी भी प्रकार से नगण्य या कम महत्वपूर्ण नहीं था।

संदर्भ सूची:

1. वाचस्पति, इंद्रविद्या, भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का उदय और अस्त, भाग-1, आत्माराम ऐंड संस, दिल्ली, 1956, पृष्ठ 132
2. हिंदी चित्रमय जगत, जुलाई 1914, चित्रशाला प्रेस, पूना, पृष्ठ 146
3. कपूर, श्यामनारायण, प्राचीन भारत में विज्ञान और शिल्प, साहित्य निकेतन, कानपुर 1998, पृष्ठ 2
4. वाजपेयी, कृष्णदत्त, भारतीय व्यापार का इतिहास, राष्ट्रभाषा प्रकाशन, मथुरा, 1951, पृष्ठ 1
5. प्राचीन भारत में विज्ञान और शिल्प, पृष्ठ 1
6. मर्यादा, भाग 1, संख्या 5, मार्च, 1911ई0, अभ्युदय प्रेस, प्रयाग, पृष्ठ 173
7. मजूमदार, रमेशचंद्र, प्राचीन भारत, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1990, पृष्ठ 8
8. मुखर्जी, राधाकुमुद, प्राचीन भारत, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, चतुर्थ सं0 1990, पृष्ठ 21
9. वैज्ञानिक शब्दावली का इतिहास, फ्रैंक ब्रदर्स एण्ड कम्पनी, दिल्ली, 1968ई0, पृष्ठ 13
10. वहीं, पृष्ठ 74
11. कपूर, श्यामनारायण, प्राचीन भारत में विज्ञान और शिल्प, पृष्ठ 14
12. सत्यप्रकाश, वैज्ञानिक विकास की भारतीय परंपरा, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना, 1954, पृष्ठ 14-15
13. वाजपेयी, कृष्णदत्त, भारतीय व्यापार का इतिहास, पृष्ठ 18
14. वहीं, पृष्ठ 20

15. सत्यप्रकाश, वैज्ञानिक विकास की भारतीय परंपरा, पृष्ठ 53
16. दास, गोपाल, अनुवादित प्राचीन भारत वर्ष की सभ्यता का इतिहास, मूल लेखक मि0 रमेशचंद्र दत्त, पहला भाग, इतिहास प्रकाशक समिति, काशी, 1905ई0, पृष्ठ 171
17. भट्टि, देवदत्त, वैदिक भैषज्य, चैखंम्भा पब्लिशर्स, वाराणसी, 2004, पृष्ठ 39
18. दिनकर, रामधारीसिंह, संस्कृति के चार अध्याय, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, सं0 1997, पृष्ठ 171
19. सत्यप्रकाश, वैज्ञानिक विकास की भारतीय परंपरा, पृष्ठ 217
20. कपूर, श्यामनारायण, प्राचीन भारत में विज्ञान और शिल्प, पृष्ठ 9
21. दास, गोपाल, अनुवादित प्राचीन भारत वर्ष की सभ्यता का इतिहास, पहला भाग, पृष्ठ 175
22. कपूर, श्यामनारायण, प्राचीन भारत में विज्ञान और शिल्प, पृष्ठ 13
23. सत्यप्रकाश, वैज्ञानिक विकास की भारतीय परंपरा, पृष्ठ 58
24. कपूर, श्यामनारायण, प्राचीन भारत में विज्ञान और शिल्प, पृष्ठ 13
25. शास्त्री, के0 ए0 नीलकंठ, नंद-मौर्य युगीन भारत, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1969, पृष्ठ 313
26. सत्यप्रकाश, वैज्ञानिक विकास की भारतीय परंपरा, पृष्ठ 130
27. मजूमदार, रमेंशचंद्र, प्राचीन भारत, पृष्ठ 190
28. नंद-मौर्य युगीन भारत, पृष्ठ 393
29. वाजपेयी, कृष्णदत्त, भारतीय व्यापार का इतिहास, पृष्ठ 115
30. मुले, गुणाकर, गणित से झलकती संस्कृति, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2015, पृष्ठ 49-50
31. सत्यप्रकाश, वैज्ञानिक विकास की भारतीय परंपरा, पृष्ठ 93
32. सत्यप्रकाश, वैज्ञानिक विकास की भारतीय परंपरा, पृष्ठ 94
33. गुप्त, परमेश्वरीलाल, गुप्त साम्राज्य, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 1991, पृष्ठ 529;
सत्यप्रकाश, वैज्ञानिक विकास की भारतीय परंपरा, पृष्ठ 210
34. स्वार्थ पत्रिका, वर्ष 3, खंड 2, अंक 6, आषढ़ सं0 1979, पृष्ठ 297
35. संतराम अनु0 भारतवर्ष का इतिहास, प्रथम भाग, मूल लेखक लाजपत राय, वणिक प्रेस, मिर्जापुर, 1922, पृष्ठ 328

डॉ. राकेश कुमार दूबे
म. नं.168, नेहियाँ, वाराणसी, भारत

8

मोहन राकेश के नाटकों में अभिनेयता

डॉ .जयराम गाडेकर

शोध सारांश :

स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाट्य साहित्य में मोहन राकेश का नाम उल्लेखनीय है। राकेश के नाटकों ने केवल नाटक का आस्वाद, तेवर और स्तर ही नहीं बदल दिया बल्कि हिंदी रंगमंच को एक नई दिशा प्रदान की है। हिंदी नाटक को कथ्य एवं शिल्प के स्तर पर समृद्ध किया है। तत्कालीन समय के जगदीश चन्द्र माथुर, धर्मवीर भारती, मोहन राकेश आदि के कारण नाट्य लेखन में और मंचन के स्तर पर नई चेतना, दिशा, दर्शक के रूप में योगदान रहा हैं। इन नाटककारों के कारण नाट्य साहित्य को एक नया मोड़ दिया। मोहन राकेश ने नाटकों में 'रंगमंच संप्रेषण' का पूरा ध्यान रखा है। नाट्य लेखन में राकेश ने नए-नए प्रयोग किए है। जैसे -दृश्यबंध, अभिनेयता, ध्वनियोजना, प्रकाश योजना, गीत योजना, रंग-निर्देश के साथ-साथ भाषा के स्तर पर परिवर्तन के कारण नाटक को सजीव रूप मिला है। इसी कारण नाटकों में अभिनेयता अधिक रूप में फली फुली है। राकेश ने उपन्यास, कहानी संग्रह, नाटक, निबंध, एकांकी आदि विधाओं में कलम चलाई है। लेकिन नाट्य साहित्य में जो प्रसिद्धि मिली शायद किसी नाटककारों को मिली होगी। इसमें 'आषाढ़ का एक दिन' (1958), 'लहरों के राजहंस' (1963) और 'आधे अधूरे' (1969) में अभिनेयता को स्पष्ट करने का प्रयास किया है।

संकेताक्षर :नाटक, मंच परिकल्पना, प्रकाश व्यवस्था, आंगिक, वाचिक, आहार्य, सात्विक, मूक अभिनय, पारिवारिक कडुवाहट, वेशभूषा, अश्रु, अंक आदि।

मोहन राकेश बहुमुखी प्रतिभा संपन्न नाटककार रहे है। मोहन राकेश ने हिंदी नाट्य संसार में उल्लेखनीय काम किया है। राकेश ने अभिनय, निर्देशन, मंच-परिकल्पना, प्रकाश व्यवस्था, कथ्य एवं शिल्प के स्तर पर प्रयोगशील काम किया है। उनके नाट्य विषय में नवीनता रही है। 'आषाढ़ का एक दिन' नाटक में कालिदास और मल्लिका का प्रेम संबंध कालिदास की प्रतिभा से प्रभावित होकर उज्जयिनी के नरेश द्वारा बुलावा भेजना, कालिदास को उज्जयिनी जाने के लिए मल्लिका का प्रेरित करना, कालिदास का उज्जयिनी गमन, प्रियंगुमंजरी से परिणय, मल्लिका के ग्राम-प्रांतर में कालिदास का आना, कश्मीर का उपद्रव, घायल कालिदास की प्रत्यावर्तन, मल्लिका के जीवन से कालिदास की वितृष्णा आदि घटनाओं के सहारे नाटक की कथावस्तु विकसित हुई है। 'लहरों के राजहंस' नाटक में नन्द के माध्यम से आधुनिक मनुष्य की दुर्बलता और मानसिक संघर्ष का चित्रण किया है। मूलतः नन्द प्रवृत्ति और निवृत्ति, भोग और योग के बीच पीसता रहता है। नन्द और सुन्दरी परस्पर आलिंगन बद्ध होकर एक संशय से इतने दूर जा गिरते हैं कि उनका मिलना असंभव होता है। वर्तमान समय में टूटते बिखरते परिवारों के मूल में इसी विचार-वैषम्य की भूमिका लक्षित की जा सकती है। प्रस्तुत नाटक में नन्द और सुन्दरी के भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों का द्वन्द्व प्रस्तुत करने में नाटककार सक्षम रहे हैं। 'आधे अधूरे' नाटक में स्त्री-पुरुष के बीच तनाव, पारिवारिक विघटन की गाथा, मध्यवर्गीय परिवार की समस्या,

मनुष्य का अधूरापन, सावित्री का संपूर्ण पूर्ण मनुष्य खोजने का प्रयास, असंतोष आदि पहलू को रंगमंच पर उजागर करने में नाटक सक्षम रहा है। राकेश के नाटक प्रयोगशील रहे हैं। पात्रों का स्वाभाविक चित्रण, संवादों में मार्मिकता, बोलचाल की भाषा, अभिनेयता, देशकाल वातावरण और रंगमंचीयता की दृष्टि से सफल है।

नाटक में अभिनय वह प्रक्रिया है जिसके माध्यम से अभिनेता या पात्र अभ्यास और अभिनय के बल पर एक विशिष्ट चरित्र दर्शकों के सम्मुख प्रस्तुत करता है। नाट्य प्रयोग में अभिनय ही प्राणतत्व होता है। नाटक के सभी भाव, विचारों, आनन्द, घृणा और संवादों को रूपायित करने का साधन अभिनय है। भरतमुनि ने 'नाट्यशास्त्र' में अभिनय का विचार-विमर्श बड़े विस्तृत मात्रा में किया है। 'अभिनय' शब्द की उत्पत्ति के बारे में लिखते हैं- "णी´ धातु से 'अभि' उपसर्ग लगाने से 'अभिनय' शब्द बनता है जिसका अर्थ है- नाटक के प्रयोग द्वारा मुख्यार्थ (कथानक) को श्रोता या सहृदय सामाजिक के हृदय तक पहुँचाना और विभावन या रसास्वादन कराना है।"[1] अतः अभिनय से तात्पर्य - उस व्यापार से है जो हमें अपने चारों ओर के संसार से निकालकर, रंगमंच पर निर्मित हो रहे कलात्मक संसार में पहुँचा देता है। अभिनेता अपने अभिनय से सहृदय **के हृद्य** में सौंदर्य का उद्बोधन करता है। भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में लिखा है- "आङ्किो वाचिकश्चैव हृहार्य: सात्विकस्तिथा। ज्ञेयस्त्वभिनयो विप्राश्चतुर्धा परिकीर्तिता।"[2] अर्थात भरतमुनि ने नाट्य अभिनय चार प्रकार के माने हैं। जैसे- आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्विक भेदों का उल्लेख किया है। आंगिक अभिनय से हाथों, ऊँगलियों, नेत्रों, पाँवों और नासिका के चेष्टाओं से अभिव्यक्त होता है। वाचिक अभिनय से कथोपकथन, गीत, धुनों, स्वरों, शब्द उच्चारण के आरोह-आवरोह द्वारा भिन्न-भिन्न भावों का स्पष्टीकरण होता है। आहार्य अभिनय से ही स्पष्ट है कि इसमें अभिनेता में वेशभूषा और श्रृंगार प्रसाधन महत्वपूर्ण होता है। सात्विक अभिनय में अभिनेता की समस्त मानसिक और आत्मिक शक्तियों का प्रयोग किया जाता है। पश्चिम में अभिनय के लिए 'ऐक्टिंग' संज्ञा का प्रयोग किया जाता है। यह मूल शब्द 'ऐक्ट' है। हम जीवन में संसार में जो कुछ करते रहते हैं वह अभिनय ही है। एक मनुष्य को लगभग इन्हीं अभिनयों से गुजरना होता है। जैसे- कभी पुत्र, कभी शिष्य, कभी पति, कभी पिता तो कभी दादा या नाना, तो कभी अध्यापक, कभी अधिकारी के भूमिका में उसे जाना पड़ता है। वर्तमान समय के नाटकों में अभिनय कौशल बदल रहे है। मोहन राकेश के 'आषाढ़ का एक दिन', 'लहरों के राजहंस' और 'आधे अधूरे' नाटकों में आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्विक अभिनय के साथ-साथ मूक अभिनय का भी प्रयोग मिलता है।

आंगिक अभिनय :

आंगिक अभिनय से तात्पर्य है- शरीर के अंगों, उपांगों और प्रत्यंगों की विभिन्न चेष्टाओं के भंगिमाओं से हैं। सरल वाक्य में कहें तो अंगों द्वारा निष्पन्न होने वाले अभिनय को आंगिक अभिनय कहा जाता है। भरतमुनि ने आंगिक अभिनय के तीन प्रकार स्पष्ट किए है- शरीर, मुखज और चेष्टागत। इसके अंग और उपागों के प्रकार आ. विश्वनाथ मिश्र ने किताब में लिखते हैं- "मानव शरीर के छह अंग स्वीकार किए गए है। जैसे- सिर, आँख, वक्ष, पार्श्व, कटि एवं पाद। इसी प्रकार उपांग भी छह माने गये हैं, यथा- नेत्र, ध्रुव, नासा, अधर, कपोल और चिबुक। आँखों के फिर तीन प्रत्यंग माने गये हैं- तारा अर्थात पुतलियाँ, पुट अर्थात् पलकें और भृकुटि। ये सभी अंग-प्रत्यंग अपनी विभिन्न भंगिमाओं, मुद्राओं एवं चेष्टओं द्वारा विभिन्न प्रकार के अनुभवों को अभिव्यक्त करते हैं।"[3] इस कथन से स्पष्ट है कि आधुनिक नाटकों में छह अंगों का प्रयोग मिलता

है। आंगिक अभिनय में प्रथम शिरो भाग की चेष्टाओं पर विचार विमर्श किया गया है। इस संसार में जीवन-प्रवाह में बदलती परिस्थितियों को हमारी आँखें, कपोल, नासिका आदि विशेष रंग, दृष्टि ग्रहण करते हैं। भरतमुनि ने इसे 'मुखराग' कहा है। मुखराग के चार प्रकार है- स्वाभाविक, प्रसन्न, रक्त और श्याम। इसमें सामान्य अवस्था में हमारा मुख स्वाभाविक रहता है। किसी से बहुत अनुराग की भावना है, मन की प्रसन्नता व्यक्त होती है तो वह प्रसन्न अवस्था होती है। रक्त अर्थात इसमें वीर, रौद्र और भय की अभिव्यंजना में मुख बहुत लाल हो जाता है तो उसे रक्त नाम से अभिहित किया गया है। करुणा, बीभत्सता और भय की अनुभूतियों को लेकर श्यामता का जन्म होता है। आंगिक अभिनय में हाथों के बाद वक्षस्थल, आभुग्न, निर्भुग्न, प्रकंपित, उद्वाहित और सम अवस्थाएँ ग्रहण करता है।

मोहन राकेश के नाटकों में आंगिक अभिनय प्रखर रूप में दिखाई देता है। राकेश के 'लहरों के राजहसं' नाटक का आधार ऐतिहासिक है। कपिलवस्तु की राजकुमार नन्द की पत्नी सुन्दरी वर्षों के बाद कामोत्सव का उत्सव मनाना चाहती है। प्रधान कर्मचारी श्वेतांग, कर्मचारियों में नागदास, शेफालिका, नीहारिक, मंदारक, बीजगुप्त आदि सभी कार्यों के प्रति जुड़े है। प्रथम अंक में जब सुन्दरी ने कामोत्सव का आयोजन किया था उसमें सिर्फ आर्य मैत्रेय ही अतिथि आए है। रविदत्त, अग्निवर्मा, नीलवर्मा, ईशाण, शैवाल, पद्मकांत, रूद्रदेव, लोहिताक्ष, शालिमित्र आदि ने कामोत्सव में आने के लिए असमर्थता दर्शायी है। जब सुन्दरी ने श्यामांग को साधारण गलती की सज़ा सुनाती है। वह बात नन्द को पसंद नहीं होती। क्योंकि जिस प्रकार कालिदास की प्रेरणा स्रोत मल्लिका है तो नन्द के अन्तर्मन की प्रतिछवि श्यामांग है। डॉ. राजेश्वरप्रसाद सिंह के 'मोहन राकेश का नाट्य-शिल्प : प्रेरणा एवं स्रोत' पुस्तक से उद्धृत हैं- "श्यामांग को सुन्दरी हमेशा अनुदार दृष्टि से देखती है। आत्मकेन्द्रित सुन्दरी से हटकर नन्द जब भी किसी से जुटता है, सुन्दरी को उसके प्रति चिढ़ हो जाती है। जिस तरह उसकी चिढ़ यशोधरा और बुद्ध के प्रति है, उसी तरह श्यामांग के प्रति भी है। वह स्पष्टत: कहती हैः 'वह एक व्यक्ति नहीं, दो आँखों का एक अनचाहा भाव है, जो हर समय इस घर की हवा में घुला-मिला है।' 'आषाढ़ का एक दिन' में मल्लिका भी विलोम को 'अनचाहे' 'अतिथि' के रूप में देखती है। भीतरी चिढ़ का ही परिणाम है कि एक साधारण-सी गलती पर सुन्दरी श्यामांग को 'अन्धकूप' में डाल देने की सजा दे देती है।"[4] इससे तात्पर्य इतना ही है कि सुन्दरी जानती है कि श्यामांग को सजा सुनाई तो अधिक चोट नन्द के हृदय को होनेवाली है। क्योंकि नन्द का श्यामांग के प्रति विशेष अनुराग है। लेकिन नन्द सफाई देता है कि जहाँ तक मैं जानता हूँ कि श्यामांग... और बात काट लेता है। इसी समय नाटककार ने मुखज, और आधार देने के लिए उसके कंधे पर हाथ रखता है। इससे तात्पर्य है कि सुन्दरी को अब गुस्सा आया है यह नन्द जानता है और उसे चुप-चाप देखता है और उसके कंधे पर हाथ रखता है। उसका चेहरा स्वयं के हाथ में लेता है। लेकिन सुन्दरी का चेहरा लाल हो गया है। अब वह नन्द का हाथ भी हटा देती है। सुन्दरी को ऐसा लगता है कि कामोत्सव में नन्द का साथ चाहिए लेकिन उसे वह नहीं मिलती। यहाँ पर नाटक में उक्त अभिनय आंगिक के मुखज अभिनय के अंतर्गत आता है।

राकेश के 'आधे अधूरे' नाटक में आधुनिक जीवन की पारिवारिक कडुवाहट और अधूरेपन को चित्रित किया गया है। डॉ. बच्चन सिंह ने 'हिंदी नाटक' किताब में 'लहरों के राजहंस' नाटक के अंतिम प्रसंगों से 'आधे अधूरे' नाटक को समझते हैं- "नन्द अनेक बिन्दुओं को खोजने पर भी अपने ही बिन्दु पर रहता है। क्या वही स्थिति इस काले सूटवाले आदमी की नहीं है ? इसकी

स्थिति तो और भी बदतर है। नन्द तो बिन्दुओं की खोज भी करता है, किंतु काले सूटवाला आदमी तो यह भी छोड चुका है। यह ट्रेजिडी, अकेलापन इसकी आधुनिकता है।''[5] इस कथन से स्पष्ट है कि परिवार का विघटन, आर्थिक दबाव से व्यक्ति की तड़प-झड़प नाटक में देखने को मिलती है। इस नाटक में आंगिक अभिनय में छह प्रकार में से आँखों से अभिनय का एक प्रमुख अंग है। इस नाटक में अशोक और छोटी लडकी (किन्नी) हमेशा लड़ते झगडे हैं। मूलतः मनोविज्ञान कहता है कि बच्चों के व्यक्तित्व पर परिवार या माता-पिता के संस्कार का प्रभाव पड़ता है। वह अपनी छोटी बहन को पड़ोसी की लड़की से सेक्स संबंधित बातें करते हुए सुनता और आग बबूला हो जाता है। जब अशोक अश्लील पुस्तकें पढ़ता है और भेद खुलने पर छोटी बहन को मारता है तब मंच पर आंगिक अभिनय अधिक मात्रा में सक्रिय हो जाता है। यथा-

''पुरुष एक : (लड़की के पास पहुँचकर) कौन-सी किताब ?

लड़का : यह किताब।

छोटी लड़की : झूठ, बिलकुल झूठ। मैंने देखी भी नहीं यह किताब।

लड़का : (आँखे फाड़कर उसे देखता) नहीं देखी ?

छोटी लड़की : (कमज़ोर पड़कर ढीठपन के साथ) तू तकिए के नीचे रखकर सोए, तो भी कुछ नहीं। मैंने ज़रा निकालकर देख-भर ली, तो...

पुरुष एक : (हाथ बढ़ाकर) मैं देख सकता हूँ ?

लड़का : (किताब वापस बुश्शर्ट में रखता) नहीं... आपके देखने की नहीं है।

(स्त्री से) अब फिर पूछो मुझसे कि इसकी उम्र कितने साल है ?

बड़ी लड़की : क्यों अशोक... यह वही किताब है न कैसानोवा... ?

पुरुष एक : (ऊँचे स्वर में) ठहरो पहले मैं यह जान सकता हूँ यहाँ किसी से कि मेरी उम्र कितने साल की है ?''[6]

इस उदाहरण से स्पष्ट है कि अशोक भले ही उम्र से छोटा है लेकिन वह अश्लील पुस्तकें पढ़ता है और भेद खुलने पर छोटी बहन को मारता है। इसमें जब उसका भेद खुलने वाला है तो वह किन्नी की तरफ बड़े-बड़े आँखे कर देखता है। उस नज़र में यही बात होती है कि फिर मैं देखँूगा। नाटक में आंगिक अभिनय में अधिक मात्रा में आँख, हाथ, सिर आदि अभिनय का प्रयोग अधिक मात्रा में हुआ है।

वाचिक अभिनय :

किसी भी नाटक में शब्द, उच्चारण, वार्तालाप का ढ़ंग या शैली, स्वर और ताल से ही नाटक का संवाद दर्शकों की स्मृति में रहता है। श्रृंगार और हास्य रस के माध्यम से षड्ज के स्वरों की निर्मिती होती है। तो वीर रस पंचम स्वरों से अभिप्रेत होता है। प्राचीन नाटकों में और आधुनिक नाटकों में मंचीयता को और सजीवता लाने के लिए वाद्य-संगीत अभिन्न अंग होता है। किसी नाटक में अगर संगीत या वाद्य का प्रयोग नहीं होता है तो दर्शक गण ऊब जाएंगे। रंगमंच पर जो भाव धारा को व्यक्त करना है उसकी शब्दावली का ध्वन्यात्मक विन्यास उस अभिनय के अनुरूप होनी चाहिए। भरतमुनि ने दस काव्य गुण माने हैं- श्लेष, समाधि, माधुर्य, ओज, प्रसाद, सौकुमार्य, समता, अर्थव्यक्ति, उदारता और कान्ति। इसी गुणों के अवतारणा से वाणी के वर्चस्व का और भी अभिवर्धन हो जाता है। वाचिक अभिनय में पात्रों के बोलने के ढंग पर विचार-विमर्श किया है। बोलने के सात उपकरण माने जाते हैं- ''सात स्वर, तीन स्थान, चार वर्ण, छह अलंकार, दो काकु और छह अंग।''[7] अतः इन उपकरणों से नाटक में संवाद अधिक मर्मस्पर्शी हो जाते है।

नाटककार ने नाटकों में वाचिक अभिनय का प्रयोग किया है। जिससे उनकी अभिनेयता झलकती है। मोहन राकेश के नाटकों में हर एक पात्र की शिक्षा, प्रसंग के अनुरूप भाषा का प्रयोग करते हैं। राकेष का

'आषाढ़ का एक दिन' नाटक ऐतिहासिकता के संबंधित होने के कारण उसकी शब्दावली कुम्भ, धारासार, तल्प, अंशुक, भर्त्सना, सामुद्रिक, पार्वत्य भूमि, विलोम, उपादन आदि शब्द संस्कृतनिष्ठ है। तो नाटक के पात्र के अनुरूप उनकी वार्तालाप का ढ़ंग परिवर्तन होता है। इस नाटक के तीसरे अंक में जब कालिदास कश्मीर का राजपद छोड़कर मल्लिका को मिलने के लिए आता है तो उसके मुख से कोई बहुत बड़ा पराक्रम करने वाली वाणी नहीं थी। उसके विलोम के शुरुआत के दिनों के जिस प्रकार से बात करता था वह स्वर भी नहीं था। जब कालिदास मल्लिका के सामने उपस्थित होता है तब उसके स्वर में पश्चाताप भरे शब्द थे। कालिदास को कवि के रूप में जीवन-यापन करना है न कि एक शासक के रूप में। इन दोनों रूपों में उसका जीवन रहा है तब भी अभिनय में अंतर है। कालिदास मल्लिका के सामने आता है, उसे हर्ष होता है लेकिन मल्लिका से बातें पहले जैसी नहीं होती क्योंकि समय किसी का गुलाम नहीं होता। समय के साथ मनुष्य बदल जाते हैं। यथा-

"कालिदास : बहुत दिन इधर-उधर भटकने के बाद यहाँ आया हूँ। कश्मीर जाते हुए जिस कारण से नहीं आया था, आज उसी कारण से आया हूँ।

मल्लिका : आर्य मातुल से आज ही पता चला था कि तुमने कश्मीर छोड़ दिया है।

कालिदास : हाँ, क्योंकि सत्ता और प्रभुता का मोह छूट गया है। आज मैं उस सबसे मुक्त हूँ जो वर्षों से मुझे कोसता रहा है। कश्मीर में लोग समझते हैं कि मैंने संन्यास ले लिया है परन्तु मैंने संन्यास नहीं लिया। मैं केवल मातृगुप्त के कलेवर से मुक्त हुआ हूँ जिससे पुनः कालिदास के कलेवर में जी सकूँ। एक आकर्षण सदा मुझे उस सूत्र की ओर खींचता था जिसे तोड़कर मैं यहाँ से गया था। यहाँ की एक-एक वस्तु में जो आत्मीयता थी, वह यहाँ से जाकर मुझे कहीं नहीं मिली। मुझे यहाँ की एक-एक वस्तु के रूप और आकार का स्मरण है। (फिर प्रकोष्ठ में आसपास देखता है।) कुम्भ, बाघ-छाल, कुशा, दीपक, गेरू की आकृतियाँ... और तुम्हारी आँखें। जाने के दिन तुम्हारी आँखों का जो रूप देखा था, वह आज तक मेरी स्मृति में अंकित है। मैं अपने को विश्वास दिलाता रहा हूँ कि कभी भी लौटकर आऊँ, यहाँ सब कुछ वैसा ही होगा।"[8]

उक्त कथन से स्पष्ट होता है कि कश्मीर के कार्यकलाप से ऊब गए हैं। अब उन्हें शासक नहीं रहना। वह आम जीवन बिताना चाहते हैं। वह पुनः मल्लिका के साथ समय गुजरना चाहते हैं, लेकिन समय के साथ सभी चीजें बदल गई है। इसलिए प्रकोष्ठ में तीक्ष्ण नज़र से देखता है। यहाँ पर उसके संवाद में प्रसाद (मानसिक शांति, हर्ष) गुण भरा है।

राकेश के 'लहरों के राजहंस' नाटक में वाचिक अभिनय में ओज, प्रसाद, माधुर्य कूट-कूट के भरा है। सुन्दरी कपिलवस्तु की राजवधू है। उसमें राजसी दर्प अधिक ही भरा है। नाटक के तृतीय अंक में नन्द के केश काट दिए है। सुन्दरी के माथे पर नन्द के विशेषक गीला करने का प्रयास करता है लेकिन सुन्दरी हड़बड़कर उठ जाती है। यहां पर का संवाद वाचिक अभिनय का उत्तम उदाहरण है।

आहार्य अभिनय :

संस्कृत काल से वर्तमान काल तक वेश-भूषा को ध्यान में रखकर नाटक लिखा जाता है। नाटक के पात्रों की वेश-भूषा कैसे हो वह पात्र की स्थिति या उसका किस प्रकार अभिनय है इस पर संबंधित होता है। किसी अभिनेता की नाटक में क्या भूमिका है, उस पर उसकी वेश-भूषा निर्भर होती है। वेश-भूषा के संबंध में बलवंत गार्गी लिखते हैं- "वेश-भूषा और श्रृंगार प्रसाधन में रंगों, मुकुटों, आभूषणों, अलंकारों का बहुत सूक्ष्मता से ध्यान रखा जाता है। देवताओं या अप्सराओं के मुख चंदन के रंग के होते हैं। वेश-भूषा के विशेषज्ञ को किसी विश्वकोश रचयिता की भाँति पात्रों की श्रेणियों, जातियों, स्वभाव, पदवी और काल तथा स्थान का पूरा-पूरा ज्ञान अपेक्षित होना चाहिए। ब्राह्मणों और क्षत्रियों के मुख और वर्ण और शूद्रों के श्यामवर्ण होते हैं। भिक्षुओं का चेहरा सफाचट, राजाओं और सभासदों की दाढ़ी-मूँछ तराशी हुई और

तपस्वी और अघोरी जटा जूट धारी होते हैं।"[9] आहार्य से तात्पर्य है कि कृत्रिम, नैमित्तिक, साभिप्राय और श्रृंगार या आभूषण से संप्रेषित होता है। अभिनय में अभिनेता जो मूल 'स्वभाव' को छोड़कर 'परभाव' को ग्रहण करता है वह आहार्य में ही संपन्न होती है। आहार्य अभिनय में स्वयं को दूसरे रूप में ढालना बड़ा जोखिम का कार्य है। इस आहार्य से तात्पर्य है कि अभिनेता या अन्य पात्रों को जिस प्रकार का अभिनय है तो उसे उस वेश-भूषा को ढालना होता है। तभी दर्शकों पर उसका अधिक मात्रा में प्रभाव होता है।

नाटकों में आहार्य अभिनेयता के कारण नाटक के चरित्र बरसों बाद भी याद में रहते हैं। आहार्य अभिनेयता के अंतर्गत पात्रों की वेश-भूषा, अभूषणों, वस्त्रों आदि रूपसज्जा का उल्लेख मिलता है। शरीर को विविध रंगों से सजाने की पद्धतियाँ इसी में रहती है। नाटक में पात्रों की योग्य वेश-भूषा दर्शकों के हृदय में घर कर जाते हैं। उसका अतिरेक या ठीक से वेश-भूषा नहीं बनी तो हँसी मजाक का कारण भी बन जाता है। 'आषाढ़ का एक दिन' नाटक में मल्लिका, कालिदास, विलोम, दन्तुल, प्रियंगुमंजरी आदि की वेश-भूषा अलग-अलग है। नाटक में वेश-भूषा का अधिक महत्व रहता है। नाटक के प्रथम अंक में जब दन्तुल ने हारिण शावक को बाण से घायल किया है और कालिदास, मल्लिका उसे उठकार लाते हैं। तभी का संवाद आहार्य अभिनय को स्पष्ट करने में सक्षम है। यथा-

"कालिदास : देख रहा हूँ कि तुम इस प्रदेश के निवासी नहीं हो।

दन्तुल : मैं तुम्हारी दृष्टि की प्रशंसा करता हूँ। मेरी वेश-भूषा ही इस बात का परिचय देती है कि मैं यहाँ का निवासी नहीं हूँ।

कालिदास : मैं तुम्हारी वेश-भूषा को देखकर नहीं कह रहा।

दन्तुल : तो क्या मेरे ललाट की रेखाओं को देखकर ? जान पड़ता है चोरी के अतिरिक्त सामुद्रिक का भी अभ्यास करते हो।

मल्लिका : तुम्हें ऐसा लाँछन लगाते लज्जा नहीं आती ?

दन्तुल : क्षमा चाहता हूँ देवी ? परन्तु यह हरिणशावक, जिसे बाँहों में लिए हैं, मेरे बाण से आहत हुआ है। इसलिए यह मेरी सम्पत्ति है। मेरी सम्पत्ति मुझे लौटा तो देंगी ?"[10]

इस संवाद से स्पष्ट होता है कि दन्तुल की वेश-भूषा से स्पष्ट होता है कि वह एक राजपुरुष की वेश-भूषा है। कालिदास और मल्लिका की तुलना में अधिक सुंदर है। दन्तुल के वाणी में अधिकार की भाषा और क्षमा का स्वर भी है तो कालिदास और मल्लिका की भाषा प्रेम की भाषा है। इन तीनों के आहार्य अभिनय से स्पष्ट होता है कि कौन किस भूमि से जुड़ा है।

सात्विक अभिनय :

'सात्विक' शब्द 'सत्व' से बना है। 'सत्व' गुण से पूर्ण होने का भाव होता है। इस शब्द के अन्य अर्थ है- प्रकृति, सहज स्वभाव, जीवन शक्ति, चेतना आदि। सात्विक भाव से तात्पर्य उन भावों से है जो प्रेरणा से सहज, सरल रूप से उत्पन्न होते हैं। अनुभव से तात्पर्य आश्रयगत आलंबन की उन चेष्टाओं से है, जिनसे उसके मन में जागृत भाव की सामाजिक अनुभूति होती है। सात्विक भावों की संख्या आठ मानी गई है। यथा- स्वेद (क्रोध, भय, हर्ष, लज्जा, दु:ख, श्रम, ताप, चोट, व्यायाम आदि से रोप कूपों में जल बिन्दुओं का प्रकट होना ही स्वेद है।), कंप (शीत, भय, हर्ष, क्रोध आदि के कारण शरीर काँपना ही कंप है।), रोमांच (भय, शीत, हर्ष, क्रोध, रोग आदि से शरीर के रोमों का उठ जाना ही 'रोमांच' है।), स्तभ (हर्ष, विषाद, भय, लज्जा, विस्मय आदि के कारण अंगों के संचालन में जो अवरोध उत्पन्न हो जाता है उसे 'स्तंभ' कहा गया है।), स्वरभंग (भय, हर्ष, क्रोध, वार्धक्य, रोग, कण्ठ से सूखने वाणी का खण्डित हो जाना ही स्वर भंग है।), अश्रु (क्रोध, आँखों में धुआँ लगने से, भय से, शोक से और आनन्द के आवेग से आँखों में जल बिंदुओं का आ

जाना ही अश्रु है।), प्रलय (अधिक मेहनत, मूर्छा, भय, निद्रा, गंभीर चोट आदि से शरीर चेष्टाहीन हो जाना ही 'प्रलय' है।), वैवर्ण्य (शीत, क्रोध, भय, श्रम, रोग, क्लेश, ताप आदि से मुख का रंग बदल जाना ही वैवर्ण्य है।)। इस योग से उत्पन्न वे चेष्टाएं जिस पर हमारा वश नहीं होता उसे सात्विक अनुभव कहा जाता है। सात्विक अभिनय के लिए आठ प्रकारों से ही गुजरकर जाना पड़ता है। मेरा अनुमान है कि 'सात्विक अभिनय' में सबसे कठिन 'आँसू' अभिनय है, क्योंकि हँसाना तो ठीक है लेकिन सामने वाले को रूलाना बहुत ही कठिन कार्य है।

नाटककार ने सात्विक अभिनेय प्रयोग नाटकों में बड़ी ही कुशलता से किया है। मोहन राकेश के नाटकों में सात्विक अभिनेय प्रयोग हुआ है। 'आषाढ़ का एक दिन' नाटक में जब कालिदास उज्जयिनी चला जाता है तो उसकी यादों में मल्लिका ने न जाने कितने अश्रु बहाएं है। मल्लिका कालिदास पर प्रेम करती थी। वह कालिदास का कवि के रूप में नाम देखना चाहती थी। इसलिए वह उज्जयिनी भेजना उचित समझती है। इस नाटक में सात्विक अभिनेय का प्रयोग मल्लिका के चरित्र के माध्यम से अधिक हुआ है। प्रस्तुत नाटक के द्वितीय अंक में जब मल्लिका को मिलने के लिए प्रियंगु आती है और मल्लिका से बातों-बातों में विवाह के लिए अनुनासिक और अनुस्वार का नाम लेती है, यह नाम सुनकर मल्लिका की आँखों में आँसू आ जाते हैं। यथा-

"प्रियंगु : सम्भवतः तुम दोनों में से किसी को भी अपने योग्य नहीं समझती। परन्तु राज्य में ये दो ही नहीं, और भी अनेक अधिकारी हैं। मेरे साथ चलो। तुम जिससे भी चाहोगी... मल्लिका आसन पर बैठ जाती है और रुँधे आवेश से अपना होंठ काट लेती है।

मल्लिका: इस विषय की चर्चा छोड़ दीजिए। (गला रुँध जाने से शब्द स्पष्ट ध्वनित नहीं होते। अन्दर का द्वार खुलता है और अम्बिका रोग और आवेश के कारण शिथिल और काँपती- सी बाहर आकर जैसे अपने को सहेजने के लिए रुकती है।)

प्रियंगु : क्यों ? तुम्हारे मन में कल्पना नहीं है कि तुम्हारा अपना घर-परिवार हो ?"[11]

उक्त संवाद से स्पष्ट होता है कि जान बुझकर प्रियंगु ने मल्लिका के विवाह के बारे में विषय छेड़ती है। ताकि मल्लिका कालिदास को भूल जाएगी। जब प्रियंगु ने विवाह की बात की तो मल्लिका की स्पष्ट ध्वनि नहीं आ रही थी, वह अंदर ही अंदर रो रही थी। इसी प्रसंग से सात्विक अभिनय उभरकर आया है।

मूक अभिनय का प्रयोग :

मोहन राकेश के सभी नाटकों का अंत मुख्य पात्र के अभिनय से होता है, जहाँ मुद्रा और बिंब संवाद से भी अधिक कुछ कह जाते हैं। उदाहरण के लिए मल्लिका कालिदास को झरोखे से जाते हुए देखती है। उसके पैर बाहर बढ़ने लगते हैं, परंतु बच्ची को बाहों में देखकर वह वहीं जकड़ जाती है। नन्द मूक और स्तब्ध दिखाई देता है और फिर आहत भाव से चला जाता है। सुन्दरी भी कुछ नहीं कहती, केवल सिसकते हुए हथेलियों पर औंधी हो जाती है। 'आधे अधूरे' में लड़के की बाहें थामें महेंद्रनाथ की धुँधली आकृति घर के अंदर प्रवेश करती दिखाई देती है। ये दृश्य बिंब अनकहे शब्दों से बहुत कुछ कहते हैं। शब्दों के बीच के मूकाभिनय को लेकर राकेश प्रयोगशील थे। रंगमंच को जहाँ वे शब्द को माध्यम मानते थे, वहाँ शब्दों के अतिरिक्त मोह, उनकी बाढ़ को रंगानुभव के लिए बाधक भी मानते थे। इसलिए उन्होंने अपने नाटकों में 'शब्द और मूक' अभिनय का सुंदर समन्वय किया है। उन्हीं के शब्दों में "नाटकीय रंगमंच के अंतर्गत मूक अभिनय भी लंबी निःशब्दता की तरह शब्दों के बीच एक कड़ी है। शब्दों से उद्‌भूत बिंब में से एक बिंब यह भी हो सकता है, होता है। हमारा भाषा संस्कार इस बात का प्रमाण है कि शब्दों की यात्रा में बहुत बार बहुत कुछ अनकहे शब्दों द्वारा कहा जाता है।"[12] शब्दों को लेकर विविध प्रयोग राकेश को प्रयोगधर्मी का स्तर

प्रदान करता है। राकेश के 'आधे अधूरे' नाटक में भी कई अनकहे शब्द हैं जो मूक अभिनय व्यक्त करने में सक्षम है।

मोहन राकेश के 'आषाढ़ का एक दिन', 'लहरों के राजहंस' और 'आधे अधूरे' नाटक में मूक अभिनय का प्रयोग प्रचूर मात्रा में हुआ है। 'आषाढ़ का एक दिन' नाटक के तीसरे अंक में अंत में कालिदास का अभिनय मूक अभिनय अंतर्गत आत है। कालिदास सब कुछ छोड़कर मल्लिका के साथ जीवन अथ से आरंभ करना चाहते हैं। लेकिन समय बहुत ही बलवान होता है। कालिदास और मल्लिका के अंतिम संवाद से जब समाप्त हो जाता है अभिनय कालिदास का अभिनय मूक अभिनय है-

"मल्लिका : तुम कह रहे थे कि तुम फिर अथ से आरम्भ करना चाहते हो। (कालिदास निःश्वास छोड़ता है।)

कालिदास : मैंने कहा था कि मैं अथ से आरंभ करना चाहता हूँ। यह संभवतः इच्छा का समय के साथ द्वन्द्व था। परंतु देख रहा हूँ कि समय अधिक शक्तिशाली है क्योंकि...।

मल्लिका : क्योंकि ?

(फिर अन्दर से बच्ची के रोने का शब्द सुनायी देता है। मल्लिका झट से अन्दर चली जाती है। कालिदास ग्रंथ आसन पर रखता हुआ जैसे अपने को उत्तर देता है।)

कालिदास : क्योंकि वह प्रतीक्षा नहीं करता।

(बिजली चमकती है और मेघ-गर्जन सुनायी देता है। कालिदास एक बार चारों ओर देखता है, फिर झरोखे के पास चला जाता है। वर्षा पड़ने लगती है। वह झरोखे के पास आकर ग्रंथ को एक बार फिर उठाकर देखता है और रख देता है। फिर एक दृष्टि अन्दर की ओर डालकर ड्योढ़ी में चला जाता है। क्षण-भर सोचता-सा वहाँ रुका रहता है। फिर बाहर से दोनों किवाड़ मिला देता है। वर्षा और मेघ-गर्जन का शब्द बढ़ जाता है। कुछ क्षणों के बाद मल्लिका बच्ची को वक्ष से सटाए अन्दर आती है और कालिदास को न देखकर दौड़ती-सी झरोके के पास चली आती है।)

मल्लिका : कालिदास ! (उसी तरह झरोखे के पास से आकर ड्योढ़ी से किवाड़ खोल देती है।) कालिदास !

(पैर बाहर की ओर बढ़ने लगते हैं परन्तु बच्ची को बाँहों में देखकर जैसे वहीं जकड़ जाती है। फिर टूटी-सी आकर आसन पर बैठ जाती है और बच्ची को और साथ सटाकर रोती हुई उसे चूमने लगती है। बिजली बार-बार चमकती है और मेघ-गर्जन सुनाई देता रहता है।)"[13]

उक्त संवाद से स्पष्ट होता है कि कालिदास सब कुछ त्यागकर मल्लिका के साथ फिर से जीवन शुरू करना चाहता है लेकिन बच्ची के रोने के आवाज से कालिदास समझ जाता है। मेघ गर्जना होती है कालिदास के पैर बाहर बढ़ने लगते हैं। अंत में कालिदास का संवाद न होकर मंच से चला जाता है। यहाँ पर मूक अभिनय का प्रयोग नाटककार ने बड़ी कुशलता से किया है।

अतः कह सकते हैं कि राकेश ने 'आषाढ़ का एक दिन' और 'लहरों के राजहंस' नाटक को ऐतिहासिक झरोके से आधुनिक जीवन की विसंगतियों को दर्शकों या पाठकों के सामने प्रस्तुत किया है, तो 'आधे अधूरे' नाटक में मध्यवर्गीय परिवार की गाथा है। इन नाटकों में कायिक, वाचिक, आहार्य, सात्विक और मूक अभिनय प्रयोग हुआ है। प्रस्तुत नाटकों में राकेश ने हिंदी रंगमंच को एक दिशा दी है। मंच की दृष्टि से अनुपम योजना की है। जैसे- मंचीय उपकरण, बाक्स सेट, अंक विभाजन, ध्वनि योजना, प्रकाश योजना, संवादों की रचना, सुक्तियों का प्रयोग... अधूरे संवाद, बिंब योजना आदि के कारण अभिनेयता में सजीवता आयी है।

संदर्भ ग्रंथ सूची :

1. भारतीय नाट्यशास्त्र और रंगमंच, रामसागर त्रिपाठी, अशोक प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम

डॉ .जयराम गाडेकर
सहायक प्राध्यापक,
हिंदी विभाग,
पुणे विश्वविद्यालय, पुणे

संस्करण-1978, पृष्ठ 30

2. नाट्यशास्त्र, भरतमुनि, पृष्ठ 6/29
3. नाटक का रंगविधान, विश्वनाथ मिश्र, कुसुम प्रकाशन, मुजफ्फनगर, प्रथम संस्करण, 1994, पृष्ठ 160
4. मोहन राकेश का नाट्य-शिल्प : प्रेरणा एवं स्रोत, राजेश्वरप्रसाद सिंह, अमित प्रकाशन, गाजियाबाद, प्रथम संस्करण, 1992, पृष्ठ 137
5. हिंदी नाटक, बच्चन सिंह, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2008, पृष्ठ 229
6. आधे अधूरे, मोहन राकेश, राजपाल एण्ड सन्स प्रकाशन, दिल्ली, द्वितीय संस्करण, 2008, पृष्ठ 37
7. नाटक का रंगविधान, विश्वनाथ मिश्र, पृष्ठ 157
8. आषाढ़ का एक दिन, मोहन राकेश, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण, 2010, पृष्ठ 97, 98
9. रंगमंच, बलवंत गार्गी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1968, पृष्ठ 25
10. आषाढ़ का एक दिन, मोहन राकेश, पृष्ठ 19, 20
11. आषाढ़ का एक दिन, मोहन राकेश, पृष्ठ 74, 75
12. आधुनिक नाटक का मसीहा: मोहन राकेश, गोविंद चातक, इंद्रप्रस्थ प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1980, पृष्ठ 166
13. आषाढ़ का एक दिन, मोहन राकेश, पृष्ठ 109, 110

पुस्तक भारती रिसर्च जर्नल

Reg. No. 124726035RC0001
ISSN : 2562-6086
PRICE : $ 10.00 - Rs. 175

वर्ष 3, अप्रैल–जून, 2021 अंक 2

पुस्तक भारती के प्रकाशन

स्वामी, प्रकाशक और मुद्रक : प्रो. रत्नाकर नराले,
पुस्तक भारती, टोरंटो, कनाडा, 180 Torresdale Ave. M2R 3E4 से प्रकाशित.
Email : pustak.bharati.canada@gmail.com * Web: pustak-bharati-canada.com